

अन्तर्गुहामें प्रवेश

श्री चन्द्रप्रभ

अन्तर-गुहा में प्रवेश

श्री चन्द्रप्रभ

आशीर्वाद : गणीवर महिमाप्रभ सागर जी

सौजन्य : श्री महेन्द्र कुमार, रीता देवी,
गौतम नाहटा, कलकत्ता

संपादन : सुश्री विजयलक्ष्मी जैन

प्रकाशन : श्री जितयशा फाउन्डेशन,
६ सी, एस्लानेड ईस्ट,
कलकत्ता-७०००६६

कम्पोजिंग : राधिका ग्राफिक्स, इन्दौर

प्रकाशन वर्ष : अक्टूबर, १९९५

मूल्य : रु. १०/-

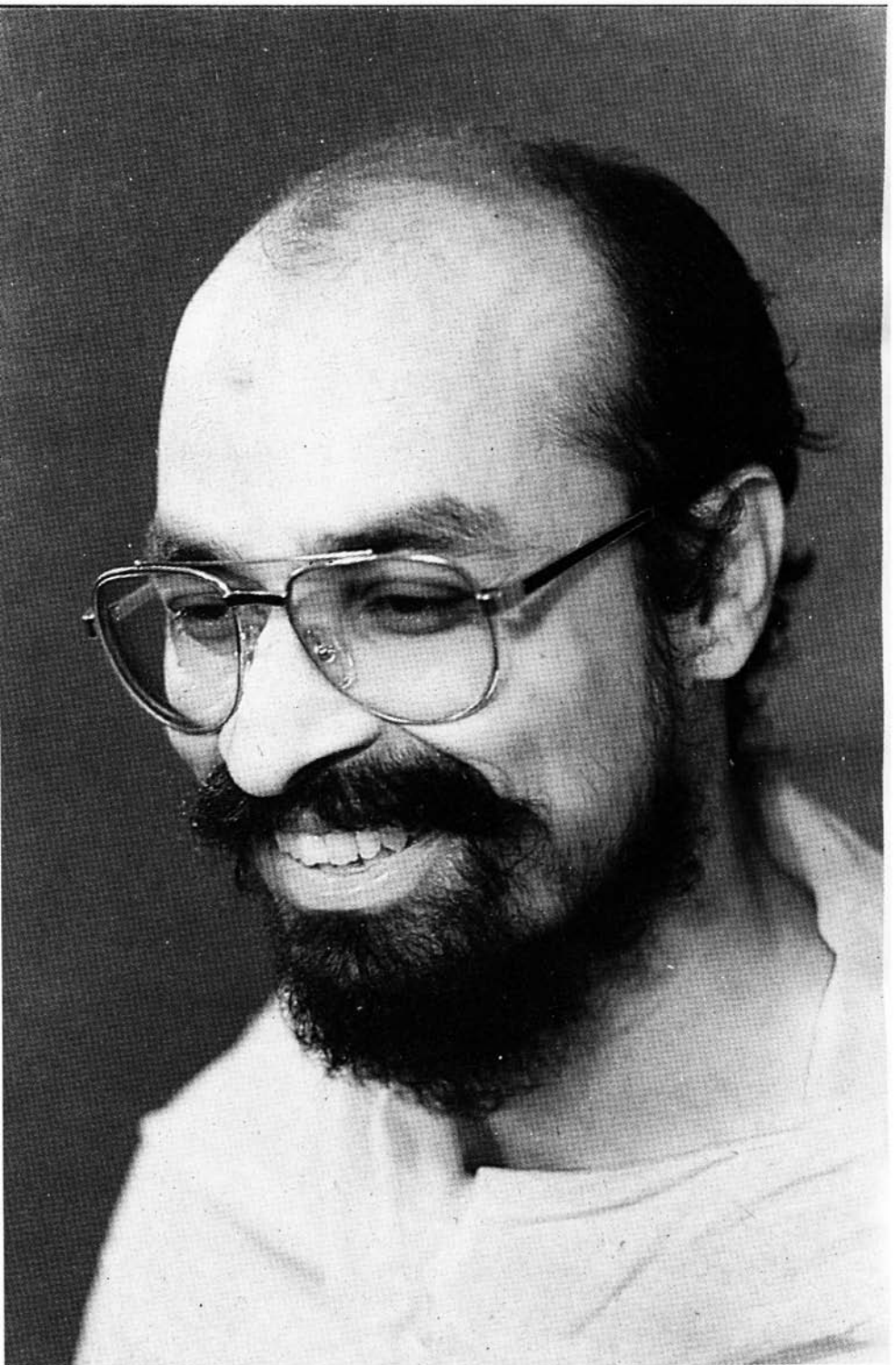
प्रवेश

धर्म का आविष्कार हुआ, क्योंकि मनुष्य अशांत था। धर्म खोजा गया, ताकि मनुष्य शांत हो सके। पर धर्म का जो रूप सामने आया, उससे मनुष्य शांत न हो सका। शांत हो सके सिर्फ वे व्यक्ति-विशेष जिन्हें धर्म की सही समझ थी और उस समझ के अनुसार आचरण करने की सुदृढ़ता जिनके चरित्र का अंग बनी। शेष मानव-जाति के लिए धर्म या तो अत्यधिक दुरुह बना रहा या कोरे क्रियाकाण्ड का पर्याय। नित नये पंथ, नई-नई उपासना पद्धतियां प्रकट और विलीन होती रहीं पर संश्रुत मनुष्यता को राहत न मिली, तो न मिली। आज तक व्यक्ति और समाज धर्म के किसी सरल पथ की तलाश में हैं, ऐसे पथ की तलाश में जो केवल संवृद्ध आत्माओं का पथ न हो बल्कि सामान्यजन के लिए भी बोधगम्य हो।

अन्तर-गुहा में प्रवेश इसी तलाश का परिणाम है। श्री चन्द्रप्रभ की चैतन्य-मनीषा ने करुणा-द्रवित होकर धार्मिक सिद्धांतों की दुरुह चट्टानों में से सरलता के छोटे-छोटे निर्झर

तलाशें हैं और उनका अमृत-जल आम आदमी से लेकर सुधिजनों तक इस पुस्तकाकार में अपने आशीर्वाद सहित भेज रहे हैं। विश्वास है यह पुस्तक पाठकों में धर्म की सही समझ विकसित करने और मनुष्य मात्र की शांति का मार्ग प्रशस्त करने में सफल होगी। मुक्ति के साम्राज्य में सबका प्रवेश हो इसी, सद्भावना के साथ प्रणाम !

--निःशेष



मनुष्य और धर्म

(जीवन एक लम्बी तीर्थयात्रा है) इस यात्रा में सपाट रास्ते भी हैं और ऊबड़-खाबड़ भी, खाइयां भी आती हैं और पथरीली चोटियां भी। बसन्त-पतझड़, दोस्ती-दुश्मनी, अमीरी-गरीबी, सुख-दुःख— हर तरह की सम्भावना है। यहाँ सागर की लहरों में खेलने का आनन्द है तो उसका खारापन भी है। हरियाली है, तो सूखे पत्तों की खरखराहट और कांटों की चुभन भी है। फूल हैं, तो फूलों पर मंडराने वाले भौरे भी हैं। अजी, इसी का नाम तो जिंदगी है — हंसती-खिलती, रोती-बिलखती। सुख और समृद्धि के नाम पर निरन्तर संघर्ष जारी रहता है और इस संघर्ष के साथ चलता है मनोमन एक विचित्र-सा अन्तरद्वन्द्व, धुएं-सी घुटन, पीड़ा की कांटों-सी कसक। इस हर उठापटक से बचता है वह, जो झूठ और झूठे सुख की पागल-दौड़ से स्वयं को अलग कर लेता है। जो जीवन को तीर्थयात्रा मानकर

जी रहे हैं, वे हर तरह की बाधाओं के बावजूद सुख-शांति के स्वामी बने रहते हैं।

मनुष्य तो शक्तियों और सम्भावनाओं का संवाहक है। वह अपने आपको अमृत बना सकता है, देवता बनकर जी सकता है। जीवन में दिव्यता आ जाये, तो मनुष्य के लिए मनुष्य होना सबसे बड़े गौरव की बात होगी। वर्तमान जीवन में स्वर्ग-सुख होगा।

हर मनुष्य परम सत्ता से सम्पन्न है। वह शान्ति, प्रेम और ज्ञान का सागर है। आनन्द उसका मूल स्वभाव है और मुक्ति उसका अधिकार। अपने आपको भुला दिये जाने के कारण उसकी सारी विशेषताएं नकारात्मक हो गई हैं। इस नकारात्मकता ने ही मनुष्य को दुःखी, स्वार्थी और विकृत बनाया है।

धर्म की शुरुआत स्वयं से होती है। धर्म के नाम पर जो धर्म चलते हैं, वे सब धर्म के ढिंढोरे हैं। सबकी अपनी-अपनी डफली है और अपने-अपने राग। धर्म का मार्ग किसी निश्चित राह से नहीं गुजरता। उसे खोजना पड़ता है। सच तो यह है कि जब मनुष्य जगता है, तभी धर्म का जन्म होता है। अपने प्रति, अपने भीतर बैठी ध्रुवता के प्रति सचेत होने पर ही धर्म ईजाद होता है। धर्म या अध्यात्म किसी सुनसान पहाड़ी या नदिया के किनारे वटवृक्ष की छाया में नहीं जन्मते, इनकी जन्मस्थली तो मनुष्य का अन्तरहृदय है।

धर्म मनुष्य की निजी विशेषता और उपलब्धि है। निजत्व से हटा दिये जाने के कारण ही, मनुष्य के कल्याण के लिए जन्मा धर्म, खुद मनुष्य के लिए ही खतरा बन गया है।

लोग धर्म के नाम पर लड़ते-झगड़ते हैं, आपस में बंट जाते हैं खून-खराबा करते हैं, इबादतगाहों में आग लगा देते हैं। साम्प्रदायिक सौहार्द की बात हर मजहब करता है, पर धर्म को लेकर सदियों से दंगे-फसाद होते रहे हैं। अब किसी व्यक्ति या समूह की परम्परा अथवा धर्म, सम्प्रदाय का रूप ले चुका है। धर्म की विराटता खो गई है। सागर छोटे-छोटे डबरों में उलझ गया है।

धर्म को अब निजी हो जाना चाहिये। तभी धर्म मनुष्य का अपना हो सकता है, वह खुद सुख से जी सकता है और औरों को सुख से जीने दे सकता है। परम्परा का बाना पहन चुके धर्म के नाम पर हम आपस में एक होना चाहेंगे, मानवता के मंच पर एकता के दीप जलाना चाहेंगे, तो यह संभव नहीं लगता। हिन्दुस्तान में एक हजार वर्षों से हिन्दु भी रहते आये हैं और मुसलमान भी। कोशिशों में कमी नहीं रही, पर दोनों के दिल कभी एक नहीं हो सके। नतीजतन, धर्मानुरागी देश को धर्म-निरपेक्षता का संविधान बनाना पड़ा।

व्यक्ति-व्यक्ति की शुद्धि होनी चाहिये। व्यक्ति ही हर समाज और राष्ट्र की इकाई है। सामूहिक प्रयास बहुत हो गए, अब नये प्रयोग से गुजरें—हर व्यक्ति की शुद्धि और मुक्ति पर ध्यान दें। मात्र देश की आजादी ही काफी नहीं है, जब तक जनमानस परतन्त्र है। विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने-अपने अनुयाइयों को धर्म के नाम पर अलग-अलग तरह की बेड़ियां पहना दी हैं। हम बेड़ियों को दरकिनार करें और अपने जीवन के परम सत्य को खुद शोधें। नये नजरिये से जीवन-जगत् को निहारें, सुधारें।

सत्य से बड़ा न कोई धर्म है और न ही धर्म का कोई

स्वरूप। वाणी का सत्य ही सत्य नहीं है, जीवन, जगत् और व्यवहार का सत्य भी, सत्य है। सबसे बड़ा सत्य तो मनुष्य के अन्तरजगत् में है। अपने को भुलाकर, औरों के सत्य को जानने और जीने की कोशिश मूढ़ता है।

तीन चीजें हैं- गूढ़ता, मूढ़ता और रूढ़ता। बिना जाने अथवा सोचे-समझे बिना किसी चीज का त्याग करना मूढ़ता है। बिना समझे-जाने किसी पर अंधश्रद्धा करना रूढ़ता है। गूढ़ता को तो उसकी अतल गहराइयों में जाकर ही जिया-पहचाना जा सकता है। धर्म हो या अध्यात्म अथवा विज्ञान, सभी गूढ़ता की महागुहा में जीते हैं।

जगत् को जानने के लिए विज्ञान है और जीवन को जानने के लिए अध्यात्म है। मनुष्य भले ही खुद को, अस्तित्व की गूढ़ता को क्यों न भूला रहे, पर जब कभी वह वेदना से व्यथित होगा, अपने वालों से चोट खाएगा तो अपने आप से ही पूछेगा कि मैं कौन हूँ? दुनिया मेरे साथ ऐसी बदसलूकी क्यों करती है? मेरे जीवन का मूल स्रोत क्या है?

ये प्रश्न, ये जिज्ञासाएं ही हमारे अन्तरहृदय में धर्म और अध्यात्म को जन्म देते हैं। धर्म मनुष्य को धारण कर लेता है, पथहारे को नई दृष्टि और नई रोशनी दे देता है। उसकी भग्न हुई मानसिक शांति को नये तरीके से लौटा देता है। एक ऐसी शांति, जो मन के ऊहापोह से ऊपर होती है।

औसत आदमी साक्षर हो जाने के बावजूद, उसे यह मालूम नहीं है कि वह वास्तव में कौन है, उसकी वास्तविक शांति और समृद्धि क्या है? वास्तविक सुखों का उसे बोध नहीं है और उन्हें प्राप्त करने का मार्ग भी मालूम नहीं है। सब सुस्त

पड़े हैं। अगर दौड़ रहे हैं तो बगैर किसी बोध के, पागलों की तरह। उसे सुख का क्षणिक अहसास तो होता है, पर फिर वापस दुःखी का दुःखी। वह शरीर तक जाकर लौट आता है या वहीं रुक जाता है। चाहे स्त्री हो या पुरुष अथवा व्यक्ति स्वयं ही क्यों न हो, हम केवल शरीर को न देखें। उसकी आत्मा में भी प्रवेश करें। अन्तरात्मा की विराटता, मधुरता और सुखशांति ही जीवन को सुख तथा आनन्द के आयाम देती है।

अन्तरमन में शांति न हो, तो शेष शान्ति का क्या मतलब? बीमार आदमी को स्वास्थ्य चाहिये। वह लाखों के धन को क्या चाटेगा? आत्म-बोध और आत्म-निर्मलता से सच्ची सुख-शांति का अनुभव होता है। इसके लिए जरूरी है कि हम पहचानें कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, पीड़ाएं और विकृतियां हमें क्यों घेर लेती हैं। अपने आपको सुखी कैसे किया जा सकता है, मुक्त कैसे हुआ जा सकता है।

सच्ची शांति मनुष्य को अन्तरात्मा में ही उपलब्ध हो सकती है। कषाय, विकार और जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से विलग रहकर, साक्षी-भाव के साथ उनका विसर्जन करने से ही अन्तरमन में सुख, शांति, आनंद निर्झरित हो सकते हैं। जिससे हमारी असत् वृत्तियां तथा प्रवृत्तियां मिटें, वही धर्म है, अध्यात्म है। हम वही क्रियाएं आचरित करें, जिससे अन्तरमन निर्मल हो, मंगलमय हो।

हमारा जन्म किसी की बनी-बनायी लीकों-लकीरों पर चलते रहने के लिए नहीं हुआ। धर्म के नाम पर हम जो कुछ करते हैं, अगर उससे आत्म-निर्मलता, आत्म-शांति, आत्म-मुक्ति का प्रतिदिन रसास्वादन होता हो, तो ही वह स्वीकार्य है। अन्तरमन उज्वल न हो, काम-क्रोध-कषाय तिरोहित न हो, तो

उस धर्माचरण का मतलब क्या है? दिनभर पूजा-पाठ करते फिरें और राग-द्वेष के द्वन्द्व खत्म न हों, तो पूजा के नाम पर यह केवल पाखंड का बोझ ही ढोना हुआ। हम किसी की पूजा-पाठ के लिए नहीं जन्मे। हम स्वयं पूज्य-पावन बनें, ऐसी प्यास हो, पुरुषार्थ हो। हममें भी परमात्म-स्वरूप की दिव्य सम्भावनाएं हैं।

सुदूर भविष्य की चिन्ता न करें, अपने आपको स्वस्थ बनाएं। जीवन को स्वर्ग बनाएं, आत्मा को आनन्द का अधिष्ठाता बनाएं। जीवन की तीर्थयात्रा तो जब पूरी होनी होगी, तब होगी, हमारा तो आज जहाँ पड़ाव है, उसको भी तीर्थ मानेंगे और हर पड़ाव को भक्ति-भावना से गुंजा देंगे, सुख-शांति और आनन्द का घड़ों भर अमृतपान करेंगे।



आत्म-परिचय

किसी से पूछा जाये कि आपका परिचय क्या है, तो वह सीधा अपना नाम बताएगा। परिचय यदि विस्तृत चाहिये तो पिता का नाम, शिक्षा और व्यवसाय आदि का जिक्र हो जाएगा। यह परिचय अर्थहीन नहीं है। यह उसका वर्तमान और व्यावहारिक रूप है।

अपना स्थूल परिचय सबको मालूम है, पर उस परिचय से हम अनभिज्ञ हैं जो जीवन का आधार है। नाम पुकारू होते हैं और माता-पिता सांयोगिक। नाम तो हमें उसका तलाश करना है जो गुमनाम है। हमें उसका परिचय प्राप्त करना है जो जन्म से पहले भी रहा है और मृत्यु के बाद भी रहेगा।

न तो जन्म से हमारी शुरुआत है और न ही मृत्यु पर समाप्ति। जीवन तो एक धारा है—ऊर्जस्वित संस्कारों की।

काया बनती है, विस्तार पाती है, शिथिल होती है और एक दिन चिता पर चढ़ जाती है। यह यात्रा मनुष्य मात्र की है, प्राणीमात्र की है। मनुष्य का जन्म और समापन होता है, पर जीवन का न आदि है न अन्त। वह रूपान्तरण पाता है। काया के चोगे बदलता है। अलग-अलग मंच पर अलग-अलग अभिनय करता है। पर मिटता नहीं है। एक बार नहीं, मृत्यु के द्वार से सौ बार भी गुजर जाये, तब भी वह अपना अस्तित्व बनाये रखता है।

तो क्या जीवन पारा है? नहीं, जीवन पारा नहीं है। पर हाँ, समझने के लिए पारे की उपमा दी जा सकती है। टूटता है, बिखरता है, आग पर चढ़ता है, फिर भी जैसा था वैसा ही बना रहता है। तो जिसे हम 'जीवन' नाम देकर सम्बोधित कर रहे हैं, वह आखिर क्या है? इस 'क्या' के जवाब में ही हमारा आत्म-परिचय समाया हुआ है।

आत्म-परिचय प्राप्त करने का जो प्रयास है, पारम्परिक शब्दावली में उसी का नाम 'साधना' है। लोगों की दृष्टि में 'साधना' शब्द मानो कोई ऊपरी दुनिया का हौवा है। बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा और सुनने में बड़ा कठिन लगता है। यदि हम साधना और संन्यास को आत्म-परिचय का प्रयास कह दें, तो प्रवेश का रास्ता काफी सहज लगेगा। बंधी-बंधायी धारणाएं शिथिल होंगी, देखने-विचारने की दृष्टि सुलभ होगी।

आत्म-परिचय प्राप्त करना थोड़ा कठिन जरूर है, पर अगर हम इसके साथ गम्भीर होने की बजाय सहज हो जायें तो हम अपनी गहराई में त्वरित कदम रख सकते हैं। शुरू में तो यह यात्रा मानसिक प्रसव-पीड़ा जैसी कष्टकारक लग सकती है, पर धीरे-धीरे इतनी सुखद और रसपूर्ण लगेगी कि अपना

मूल परिचय पाकर अहोभाव से प्रफुल्लित हो उठोगे। जीवन की धारा ही बदल जाएगी। झूठे सुख के पीछे होने वाली पागलदौड़ खत्म हो जाएगी। आदमी फिर जिएगा बोधपूर्वक, शांति और प्रेम का सागर बनकर।

आत्म-परिचय दूसरी शब्दावली में आत्म-ज्ञान है। जनमानस में एक भ्रान्ति घर कर गयी है कि आत्मज्ञानी नहीं हुआ जा सकता। जबकि आत्म-ज्ञान न टेढ़ा काम है, न ही विरला। अपने आपको पहचानना भला कौन-सा टेढ़ा काम है। खुद को हर कोई जान सकता है। मैंने जितनी सहजता से अपने अन्तर के आकाश में उसका बोध पाया, उससे ही मैं कह सकता हूँ- अपने-आप से ऊपर उठ जाओ, तो अपने आपको सहजतया पहचान लोगे।

आत्म-बोध के बाद समाज से सम्पर्क समाप्त नहीं होता। दृष्टिकोण बदल जाता है। स्नेह रहता है, पर उस स्नेह और प्रेम के प्रतिकार में किसी तरह की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रहती। वह औरों को प्रेम देता हुआ इसलिए नजर आएगा क्योंकि उसने अपने आपको जानकर यह बोध प्राप्त कर लिया है कि उसमें भी वही सत्ता है। प्रेम उसका स्वभाव बन जाता है। उसे प्रेम और पूजा में कहीं कोई फर्क नजर नहीं आता। तब मनुष्यता में रहने वाली पूज्यता की भावना भी सरलता में तब्दील हो जाती है। निंदक-प्रशंसक सब पर उसकी समान दृष्टि रहेगी। वह सबसे प्यार करेगा।

आत्म-बोध के मायने अपने आपको प्रताड़ित करना नहीं है। यह तो स्वयं को समझना है। फिर देह तो रहेगी, पर देह के विकार उसे उद्वेलित नहीं कर सकेंगे। वह देह के धर्म को जान चुका होगा। रोग तो काया में उठेंगे, पर उसकी पीड़ा

उसे सालेगी नहीं। आत्म-परिचय तो बस यह समझो कि कंकर को कंकर और हीरे को हीरे के रूप में पहचानना है। फिर व्यक्ति कंकर को कंकर जितना ही महत्त्व देगा और हीरे को हीरे जितना ही। झरने को झरने जितना और पर्वत को पर्वत जितना।

अभी तो हम भ्रम में हैं, कंकर हीरे एक-साथ रहकर धोखा दे जाते हैं, हम कंकर-सुख को ही हीरे का सुख मान बैठते हैं। यह वास्तव में चित्त की अनिर्मलता है, अपवित्रता है। अन्तरदृष्टि चाहिये ताकि चित्त की चेतना को साक्षी देख सके, उसकी संवेदनाओं के प्रभाव से स्वयं को मुक्त कर सके।

परिचय और प्रसिद्धि के लिए नाम को ही आधार मान लेना, मात्र कर्त्ता-भाव का विस्तार है। कर्त्ता-भाव व्यक्ति का अहंकार है। नामगिरी, मात्र मन को दिया जाने वाला सान्त्वना-पुरस्कार है। हम नाम एवं कुल-परिचय को व्यावहारिक परिचय तक ही सीमित रखें। अगर हमें यह अहसास हो जाये कि हर नाम आरोपित है, हमारा व्यक्तित्व नाम से हटकर भी है, तो नाम से जुड़ी प्रशंसा-निन्दा के प्रति वीतराग हुआ जा सकता है।

नामकरण तो काया का होता है, जीवन काया के आर-पार भी है। काया से हटकर वह क्या है, जीवन के उस मूल स्रोत को जीने के लिए ही ध्यानयोग है। मैं कौन हूँ — इस प्रश्न का उत्तर और अनुभव पाने के लिए ध्यानयोग मानो राजमार्ग है। ध्यान के दर्पण में अपने आत्मिक प्रश्नों का उत्तर साफ दिखाई देगा। केवल इतना ही नहीं, हर तरह के सच-झूठ का वहां इंसोफ मिल जाएगा। सम्भव है, सन्दर्भ न भी बदले,

पर दृष्टि बदल जाये, तो सन्दर्भ के सत्य तो साफ हो ही जाते हैं।

‘मैं कौन हूँ’ इस प्रश्न से अन्तर-प्रवेश की भूमिका तैयार होती है। मैं कौन हूँ— आत्म-परिचय के लिए यह सर्वसिद्ध मन्त्र है। अभी हम अपने-आप से पूछेंगे कि मैं कौन हूँ, तो जवाब आयेगा मैं यह हूँ या मैं वह हूँ। पर नहीं, ये जवाब मन की चालें हैं। मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, शिक्षित हूँ या अशिक्षित हूँ, अमीर हूँ या गरीब हूँ—ये उत्तर मन के हैं।

हम इसे ध्यान-प्रक्रिया के अन्तर्गत लें, और अपने-आपसे प्रश्न करते रहें। जब तक जवाब आते हैं, तब तक प्रश्न रहें। जब जवाब आने बन्द हो जायें, मन जवाब देते-देते थक जाए, तो इसे अपने लिए अमृत वेला मानें। उस शान्त स्थिति में जवाब की बजाय बोध होगा। जिसका बोध हो, वही हैं हम।

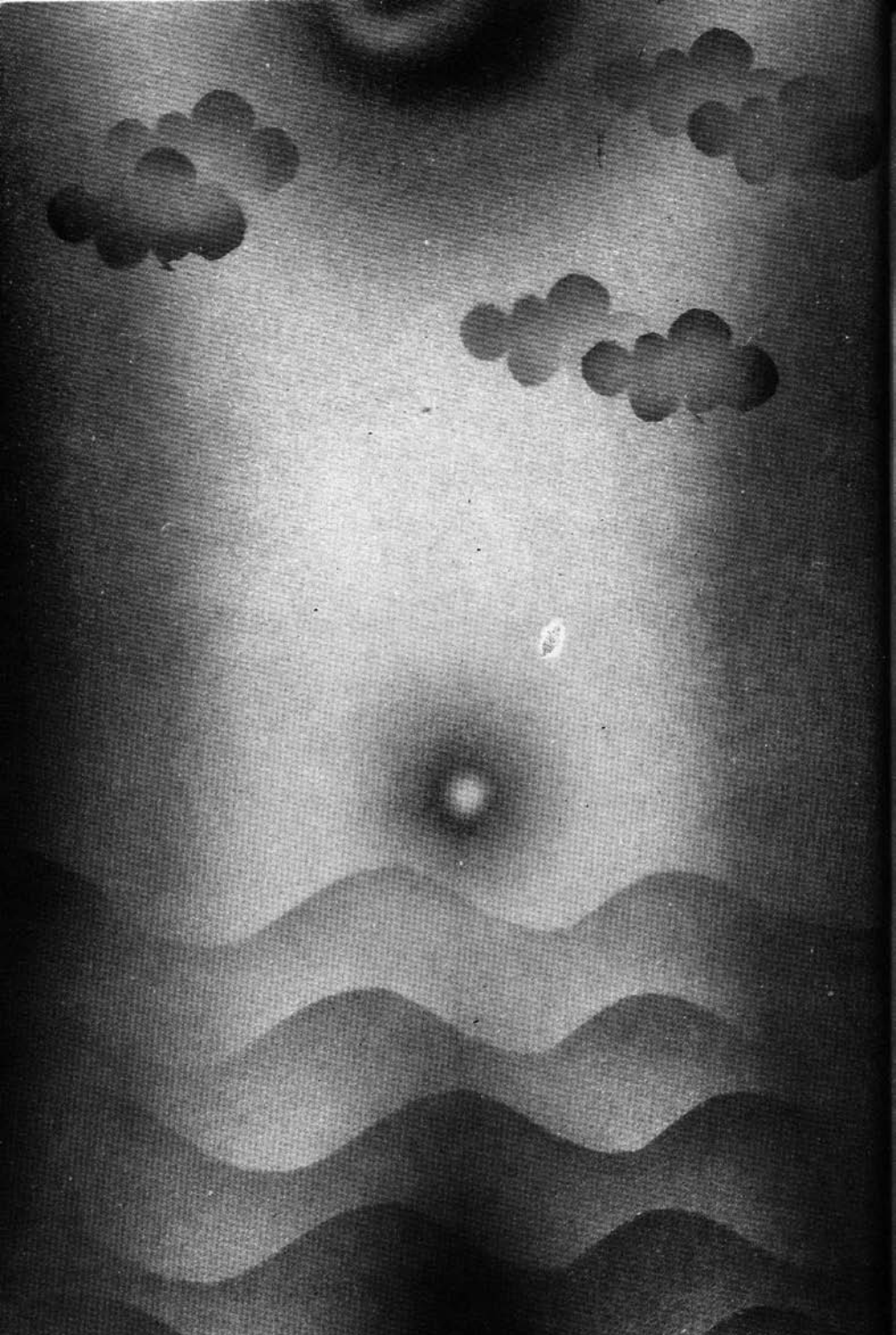
उसे हम नाम चाहे जो देना चाहें, हमारी मौज। उसे हम जीवन कहें, महाजीवन: आत्मा, परमात्मा या शून्य। शब्द गौण है, बोध महत्त्वपूर्ण है। वह जो भी है, हमारा आत्म-परिचय है, हमारा अस्तित्व है। अपने में प्रवेश करके ही हम अपने उन कर्म-संस्कारों को, कलुषित विकारों को बोधपूर्वक काट सकते हैं, जिनका हमने न जाने कब से संचय-संग्रह किया है।

अन्तस् का स्पर्श किये बगैर तो मनुष्य का मनोमन अन्तरद्वन्द्व सदा जारी रहेगा—विकार और शरीर-सुख के बीच; जीवन और जगत् के बीच। वह कथनी-करनी के भेद को सदा दोहराएगा। भीतर पाप जारी रहेगा, बाहर पुण्य प्रदर्शित होता रहेगा।

संसार हो या संन्यास, दोनों ही न तो इसमें बाधक हैं और न ही सहायक। अपने-आपको पहचानना हो, तो इसमें दाढ़ी बढ़ाना या माथा मुंडवाना, चोटी लटकाना या भभूत चढ़ाना अथवा नाम-वेश बदलना कहाँ आधारभूत बनते हैं? अपनी ओर से पूरी तरह समर्पित और अभीप्सित तैयारी है, तो हम जो भी हैं, जैसे भी हैं, प्रवेश पाया जा सकता है, अपने आपको पहचाना जा सकता है।

मैंने मुनित्व का वरण किया, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे आत्म-ज्ञान में मेरा यह मुनित्व उतना बड़ा साधन नहीं बना, जितना कि अपने आप में, अपने आपके प्रति जगने वाली जिज्ञासा। व्यक्ति ही साधक बनता है और व्यक्ति ही बाधक। साधन सहायता दे सकते हैं, पर पहुंचा नहीं सकते। पहुंचता तो व्यक्ति खुद है। हाँ, व्यक्ति की चित्त-शुद्धि में ये संयम-साधन अवश्य सहायक बनते हैं। मेरे देखे, अपने आपको जाने विना व्यक्ति स्वयं के प्रति ईमानदार नहीं हो सकता और स्वयं के प्रति ईमानदार हुए वगैर अपने अहंकार, विकार और कषाय-वृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकता।

विकार-रहित चित्त का नाम ही निर्वाण है, मानव की मुक्ति है।



अंतरंग

मनुष्य के सामने यह एक बड़ा पेचीदा प्रश्न है कि वह कौन है? क्या वह किसी माता-पिता का पुत्र मात्र है? किसी का मित्र, भाई या पति भर है अथवा इसके अलावा भी कुछ है? सबके बीच जीते हुए भी उसे अकेलापन क्यों लगता है? वह हॉड-मांस का चलता-फिरता पुतला भर है या इसके अलावा भी उसका अपना कोई अस्तित्व है?

मनुष्य यह सब तो है ही, इससे ऊपर भी है। हर प्राणी में उसकी अपनी एक आत्म-सत्ता है, जो उसके अन्तरजीवन में व्याप्त रहती है। भाई, बहिन, मित्र सब व्यवहार-वश हैं। देहातीत दृष्टिकोण में या तो सभी स्वतन्त्र सत्ता हैं या फिर सभी एक ही परम चेतना के अलग-अलग माटी के दीये हैं। सम्बन्ध तो शारीरिक और मानसिक होते हैं, बनते-बिगड़ते

रहते हैं, पर हमारी अन्तस्-चेतना इस बनने-बिगड़ने के हर दस्तूर से ऊपर है।

अपने पड़ौसी के घर-आंगन में बंधे पिंजरे और उसमें राम-राम करते तोते को देखकर लगता है कि यह शरीर भी तो आखिर एक पिंजरे जैसा ही है। 'आत्मा' के नाम से पहचानी जाने वाली सत्ता इस पिंजरे में रहने वाला प्राण-पखेरू है। जीवन न तो कोरा शरीर है और न ही मात्र आत्मा। जीवन दोनों का संयोग है—शरीर और आत्मा की मिली-जुली सरकार है।

शरीर भौतिक पदार्थों का मिश्रण और रासायनिक विकास है। आत्मा चैतन्य-ऊर्जा है, भौतिक पदार्थों के मिश्रण को प्राणवन्त करने वाली शक्ति। शरीर में आत्मा का निवासस्थान उसका अपना अन्तर-मस्तिष्क है। आत्म-प्रदेशों का सर्वाधिक घनत्व मस्तिष्क में और मस्तिष्क के इर्द-गिर्द रहता है। इस घनत्व को हम एक तरैया की तरह समझें। यह शिवमंदिर में बनी जलेड़ी की तरह है। जलेड़ी की नाल पृष्ठ मस्तिष्क की ओर है और इससे प्रवाहित होने वाली संवेदनाएं रीढ़ की ओर, हृदय और नाभि की ओर जाती हैं। किसी चीज का स्पर्श होते ही संवेदना होती है और यह संवेदना मनोमस्तिष्क और शरीर के विभिन्न केन्द्रों को प्रभावित और आन्दोलित करती है। हमारे शारीरिक और आन्तरिक जीवन का यह एक सहज विज्ञान है।

हम अपने जीवन का अंतरंग समझें। मनुष्य दो प्रकार की शक्तियों का स्वामी है, जिनमें एक शरीरगत है और दूसरी चेतनागत। शरीरगत शक्ति स्थूल है और इसका केन्द्र नाभि तथा उसके नीचे है। शरीर का ऊर्जा-कुंड यहीं निर्मित

है। नये शरीरों का निर्माण इसी स्थूल शक्ति से होता है। यह शक्ति शरीर का बीज है।

चेतनागत ऊर्जा शरीर के सबसे ऊपरी भाग में स्थित और क्रियान्वित रहती है। अग्र मस्तिष्क में आत्म-चेतना के सर्वाधिक प्रदेश रहते हैं, किन्तु मध्य मस्तिष्क में इसकी ऊर्जा का स्पष्ट अनुभव होता है। आम आदमी में सत्तर प्रतिशत आत्म-प्रदेश तो शान्त-सुषुप्त स्थिति में रहते हैं। तीस प्रतिशत जो भाग सक्रिय रहता है, उसमें बीस प्रतिशत मध्य और पृष्ठ मस्तिष्क में है, जबकि शेष दस प्रतिशत पूरे शरीर में व्याप्त रहता है। जब मनुष्य के आयुष्यकर्म क्षीण हो जाते हैं, तो ये आत्म-प्रदेश शरीर को केंचुली की तरह छोड़ देते हैं। उन्हें बाहर निकलने के लिए शरीर की त्वचा का एक छिद्र भी काफी है।

अग्र मस्तिष्क मनुष्य का आत्म-केन्द्र है, ज्योति-केन्द्र है। मानवीय चेतना का यह मूल केन्द्र होने के कारण यही दर्शन-केन्द्र कहलाता है और यही तीसरी आंख यानि शिवनेत्र/प्रज्ञानेत्र। जीवन को सारी आज्ञाएं यहीं से प्राप्त होती हैं, इसीलिए योग ने इसे 'आज्ञा-चक्र' नाम दिया है। मैं इसे ज्योति-केन्द्र या चैतन्य-केन्द्र कहना पसंद करूंगा, क्योंकि इस उपमा की गहराई में सारी उपमाएं समाविष्ट हो जाती हैं।

हमारे जीवन का एक और जो महत्वपूर्ण केन्द्र है वह है हमारा अन्तरहृदय। हृदय से जीवन-संचार की व्यवस्था होती है। यह नाभि और मस्तिष्क के बीच का सेतु है। आत्म-चेतना में वही व्यक्ति जी सकता है, जो नाभि के इर्द-गिर्द फैले जलाशय से कमल की तरह ऊपर उठ चुका है। नाभि के नीचे जीना ऊर्जा का निकास है, नाभि से ऊपर हृदय में जीना ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण है।

हृदय में जीना या हार्दिक होना सदा आनन्द में विहार करना है। हमारे अन्तरहृदय में स्वर्गलोक है, देवत्व का निवास है। व्यक्ति के निजी परमात्म-स्वरूप का वीजांकुरण यहीं होता है। हृदय, मेरे देखे मनुष्य का मानसरोवर है।

मन मनुष्य की सबसे चपल-चंचल वस्तु है। यह चेतनागत ऊर्जा की ही एक सशक्त अभिव्यक्ति है। मन बड़ा विचित्र है। स्वर्ग और नरक मन के ही दो पहलू हैं। भौरे की तरह फूलों पर मंडराना इसका धर्म है। इसे दुलती तो तब खानी पड़ती है जब फूल शूल बन जाते हैं। सागर में नहाने का मजा तब किरकिरा पड़ जाता है जब उसका खारापन भी मन के हिस्से आता है। मन मनुष्य की मूल वीमारी है। शरीर की स्वस्थता के लिए मन का स्वस्थ होना जरूरी है।

बुद्धि भी मन जैसी ही एक सशक्त क्षमता है, पर मन उच्छृंखल होता है, बुद्धि विकासमान होती है। जीवन में मन की वजाय बुद्धि की प्रधानता होनी चाहिये। प्राण की भूमिका प्राणियों की है, मन की भूमिका मनुष्यों की है, बुद्धि की भूमिका ऋषियों-विज्ञानियों की है।

मन और पार्थिव प्राण के स्वभाव से मुक्त होने पर ही वोधिलाभ और कैवल्य-लाभ हो सकता है।

मन की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी अपनी पहुंच है। चेतना मन के जरिये कहीं भी अपनी पहुंच बना सकती है। वह हर चीज, दृश्य या कल्पना को अपने में साकार कर सकती है। मन और बुद्धि वास्तव में मनुष्य की अव्यक्त चेतना के अभिव्यक्त रूप हैं।

मन में विकल्प उठते हैं, बुद्धि विचार करती है, हृदय

में भाव अवस्थित होते हैं। विकल्प तो, चौराहे पर भटकना है। विकल्पों का कोई लक्ष्य नहीं होता। यह तो हवा के झोंके के साथ लहरों की उठापटक है। विचार लक्ष्योन्मुख होते हैं। अगर बुद्धि शान्त चित्त से किसी भी चीज को सोचे तो वह मार्गदर्शी निष्कर्ष को उपलब्ध कर लेगी।

भाव अवस्था है। भावों का विचार या विकल्प से सम्बन्ध भले ही हो, पर मन और बुद्धि के द्वारा भावों की हत्या नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि जैसी भाव-अवस्था होती है, मनुष्य का मन तदनुसार ही सोचा-विचारा करता है। भाव, विकल्प और विचार दोनों से भी गहरी मनःस्थिति है।

हमें जिस मन का अनुभव होता है, वह चेतनागत व्यक्त संस्कारों की अभिव्यक्ति के कारण है। यह मनुष्य का चेतन मन है। मूल आत्म-चेतना तो हमारे गूढ़ मन में रहती है। चेतन और अवचेतन मन के पार लगे, तो ही गूढ़ता में प्रवेश होता है। चेतन मन सक्रिय रहता है, अवचेतन मन सुषुप्त रहता है। जिसे हम चित्त कहते हैं, वह वास्तव में मनुष्य का अवचेतन मन ही है। यह मनुष्य का अव्यक्त मन है। वृत्तियाँ इस अवचेतन मन से ही उठा करती हैं। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार और संवेग ही मनुष्य की अन्तरवृत्तियाँ हैं। जब तक वृत्तियाँ समाप्त न हो जायें, तब तक ये अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं।

वृत्तियों को समाप्त करने का सबसे सुगम मार्ग तो आत्मबोध कायम रखते हुए, अन्तर-जागरूकता के साथ उनका उपयोग या उपभोग कर लेना है। यद्यपि उपयोग-उपभोग का मार्ग खतरे से भरा है। भटकाव का भय है, पर अगर सही में आत्मबोध जगा है, तो वह व्यक्ति को भटकने से पहले ही उबार लेता है। वृत्तियों से छुटकारा पाने के लिए सतत साक्षित्व प्रगट

हो जाये, तब भी बहुत बड़ी मदद मिल सकती है। मेरे देखे तो, आत्मबोध और आत्म-चौकसी को हाथ में रखो और शेष सब कुछ नियति पर छोड़ दो, जो हो, जैसा हो, उसके दृष्टा बने रहो।

आज की नियति वास्तव में आत्मा का अतीत रहा है। आत्मा न तो कभी पूरी तरह शुद्ध रही और न ही मुक्त। वह अपने संस्कारों के सातत्य के कारण अथवा विकृत प्रकृति और योगानुयोग के कारण सदा-सदा से संसार में रही है, संयोग-सम्बन्धों के मकड़जाल में भ्रमणशील रही है। आत्मा किस धाम से आयी, इसको पैदा किसने किया, इस सन्दर्भ में मौन रहना ही सार्थक है। बस, यह भीतर के आकाश में बैठी एक मौन सत्ता है, सम्पदा है। यही जाना है।

जब गहरे ध्यानयोग में, परिपूर्ण शून्य में हमारी बैठक होती है, तो आत्मा आनन्द और ज्योति स्वरूप चैतन्य-समुच्चय के रूप में ही ज्ञात होती है। गूढ़ मन में हम अपनी नियति, संवेगों एवं संयोग-सम्बन्धों के भी साक्षी होते हैं। अपने अतीतगत संयोगों को देखकर ही यह जाना कि मनुष्यात्मा इस एक जन्म की ही ईजाद नहीं है। इस जन्म से पूर्व भी इसका अस्तित्व रहा है। जिन कर्म-प्रकृतियों को हम आज अपने अन्तरमन में अनुभव कर रहे हैं, उसका कर्ता पहले भी रहा। एक बात तय है कि हम अपने कर्म-प्रदेशों, वृत्तियों और संयोगों से सदा घिरे हुए रहे हैं। अशुद्धि और बन्धन, कम हों या ज्यादा, सदा हमारे साथ रहे हैं। दुर्भाग्य और सौभाग्य के नक्षत्र हमारी ही निर्मिति हैं। कालचक्र की चाल में कौन सदा एक-सा रह पाया है?

दुनिया एक मुसाफिरखाना है और हम इसमें

आते-जाते रहते हैं। स्थान बदलते रहे हैं, पर धरती तो यही की यही है। मृत्यु हमें धोखा जरूर देती रही, पर हम हर बार नयी तैयारी के साथ जनमते रहे हैं। स्वर्ग और नरक को हमने यहीं पर जिया और भोगा है। सुख की स्थिति में आत्मा में स्वर्ग प्रगट होता है और दुःख की अवस्था में हमारा अस्तित्व नरकमय होता है। करुणा और प्रेम हमें स्वर्ग की विभूति बना जाते हैं, काम और क्रोध हमें नरक के तमस् में तब्दील कर डालते हैं।

स्वर्ग और नरक स्थान सूचक नहीं, स्थिति-सूचक हैं। अतीत का आत्म-कर्तृत्व हमारा वर्तमान का भाग्य बन जाता है। भाग्य सिंकदर भी हो सकता है और भिखमंगा भी। भाग्य चाहे जो उठापटक करे, अगर मनुष्य को जीने की कला आ जाये, तो वह नरक को भी स्वर्ग में बदलकर जी जाता है।

दुनिया का काम ठोकें मारना है। उसके लिए जिन्दगी एक खिलौना है। जो जीवन से खेलते हैं, उनसे जीवन की कैसी शिकायत करनी! हमारी शिकायत सुनने वाला तो हमारे अपने ही भीतर बैठा है। पर अपने से भी शिकायत क्या करनी, जो हो रहा है, वह हमारे अपने ही किये हुए का भुगतान है। हम सहज हों, आत्म-स्थिति का अवलोकन करें और नये कर्मों के प्रति सतर्क रहें। कोई कैसा भी कर्म क्यों न करे, पर हर किसी को यह याद रखना चाहिये कि उसे अपने हर कर्म का भुगतान करना होगा।

मैंने अपने अव्यक्त कर्म और कर्मोदय को देखा है, अपने अतीतगत संयोगों को पहचाना है, उसके परिणाम देखे हैं, इसीलिए कहता हूँ अपने किये गये कर्मों की सजा से बचा नहीं जा सकता। हम अनंत-अनंत सम्भावनाओं के पुंज हैं।

चित्त, मन, हृदय और बुद्धि के सार्थक पहलू भी हैं। हम अपनी अन्तरात्मा के लिए भी जियें। भीतर का एकान्त हमें अपनी ओर बुलावा भेजता है। हम उस ओर भी ध्यान दें।

मन पर बुद्धि का आधिपत्य होना चाहिये। हमें हृदयपूर्वक जीना आना चाहिये। मन बुद्धि का भटकाव है और बुद्धि भटकते मन का केन्द्रित होना है, अलग-अलग धाराओं में बहने की बजाय एकधार हो जाना है। मन चेतना का बाहर की ओर बहना है, बुद्धि चेतना का अन्तर-मस्तिष्क में जमाव है। मन कल्पना करता है, बुद्धि स्मरण रखती है। मन इच्छा करता है, बुद्धि इच्छा-पूर्ति की राह दर्शाती है। कल्पना, कामना और प्रतीति मन के कर्तृत्व हैं, जबकि विचार, निर्णय, धारणा, ज्ञान, स्मृति-ये सब बुद्धि के धर्म हैं।

हमारी आत्म-चेतना जैसे-जैसे सघन और जाग्रत होती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धि की क्षमता बढ़ती जाती है। शान्त मन से बढ़कर कोई आनन्द का स्वामी नहीं है और जाग्रत बुद्धि से बढ़कर कोई विद्वान नहीं है। शान्त मन मनुष्य के लिए अन्तरज्ञान का रोशनी-भरा द्वार है।

मन हवा है, मस्तिष्क दीया है, बुद्धि लौ है और प्रज्ञा प्रकाश है। हृदय वह तत्त्व है, जो प्रकाश का आनन्द उठाता है। मन नीचे गिराता है, हृदय ऊपर उठाता है। हृदय का नाभि के नीचे की ओर बहना संसार है, ऊपर की ओर झांकना मुक्ति की पहल है। यह ब्रह्म-विहार है। हमारे ज्योति-केन्द्र पर एक रसभरी, परम धन्यता के आनन्द में डूबी दस्तक है, भोर है।

आत्म-चेतना की प्रफुल्लता के लिए हमें मनोमस्तिष्क

को सदा प्रफुल्लित रखना चाहिये। हम शरीर नहीं, शरीर में हों। मन नहीं, मन में हों। अपनी दिव्यता में ही देवत्व है। मन में पवित्रता और हृदय में प्रफुल्लता—सबके लिए यह सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है।

जीवन में चाहे अनुकूल परिस्थिति बने या प्रतिकूल—दोनों ही हालातों में अन्तरमन को निष्प्रभावी रखना व्यक्ति का देहातीत होकर जीना है। मैं कौन हूँ—इसका सदा बोध रखो, ताकि निन्दा-प्रशंसा, पीड़ा-व्यामोह हमें घेर न सकें। चेतना की मुस्कान हर हाल बनी रहे। सोहं—मैं वह हूँ। शिवोहम् - मैं शिव हूँ, शिव रूप हूँ। कायगत मंदिर में शिवत्व विराजमान है। शिव व्यक्तिवाचक नहीं, स्वभाववाचक है। शिव यानी कल्याण। जिन गुणों से दिव्यता, पवित्रता और पूर्णता आत्मसात् हो, उसी से मनुष्य का, सृष्टि का कल्याण है, निर्वाण है।

आत्म-विस्मृति

विश्व एक रंग-बिरंगा उपवन है। मनुष्य इस उपवन में खिले फूलों में सर्वाधिक सुन्दर है। हमारा रंग-रूप और नाक-नकश सौन्दर्य के ही प्रतिमान हैं। परन्तु विचारों और भावों की सुन्दरता के बगैर मनुष्य का जीवन-सौन्दर्य अधूरा है। जीवन न तो केवल काया पर ही अवलंबित है और न ही हर क्षण काया के रूप-रस में जिया जा सकता है। अन्तरात्मा की सुषमा ही मनुष्य को आत्मीयता, महानता और सम्मान दिलाती है।

सभी जानते हैं कि शरीर अन्ततः नाशवान् है पर शरीर के साथ काफी सम्भावनाएं जुड़ी हुई हैं। शरीर साधन है और हमें इसे साधन जितना महत्व देना ही चाहिये। आत्मा और परमात्मा से प्रेम करने वाला भी अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहता। इसकी शुद्धि और स्वच्छता आवश्यक है, पर



अन्तर-हृदय की निर्मलता एवं मधुरता उससे अधिक महत्वपूर्ण है।

परमेश्वर प्रकृति की डाल-डाल, पात-पात है। मानवता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण है। जहां तक मनुष्य के स्वामी का सवाल है, वह उसके अपने भीतर बैठा है। मनुष्य की गन्दी वृत्तियों के कारण भीतर बैठा स्वामी मानो कुत्सित हो गया है। स्वामी कुरूप रहे और स्वामी का रथ शृंगारित किया जाता रहे तो इसका कोई तुक नहीं है। अन्तर-सौन्दर्य तो सदा अपना शाश्वत मूल्य रखता है। एक बार कुरूप चेहरा चल जायेगा, मगर कुरूप आत्मा कभी नहीं चलेगी। हमें अन्तरमन में विराजमान सत्य-शिव-स्वरूप सौन्दर्य पर ध्यान देना चाहिये। हार्दिक और आत्मिक आनन्द में विहार करना चाहिये।

सुन्दर यहाँ बहुत कुछ है पर,
तुम सुन्दर हो सबसे बाँके।
झूठी है काया की माया,
सत्य-हृदय से शिवता झाँके।।

हमारे अन्तर-हृदय में शिवत्व का बीज है, परन्तु स्वयं को मात्र दैहिक मान लेने के कारण ही मनुष्य भूल-भुलावे में भटका है। अगर व्यक्ति अपने अन्तर-जगत में झाँक ले, अन्तर-शांति और अन्तर-सौन्दर्य को मूल्य देना प्रारम्भ करे तो जीवन-मूल्यों में आ रही गिरावट की रोकथाम की जा सकती है।

मनुष्य अपनी आत्मा और उसके मूल्यों को भूल चुका है। उसके लिए जीवन कोई सनातन तीर्थ-यात्रा नहीं वरन् जन्म

से मृत्यु तक का सफर भर है। जीवन, जन्म-जन्मान्तर की परम्परा है। संसार का सबसे गहरा सत्य है। आखिर जितने भी सत्य हैं, सब जीवन की गोद में ही पलते हैं। यहाँ तक कि हर तरह की बदी और वीभत्सताएं जीवन में ही अपना घर बनाए रखती हैं।

जीवन न मंगल है, न अमंगल। वह कोरे कागज की तरह है। यह हम पर निर्भर है कि हम उस पर कीचड़ उछालें या इन्द्रधनुष उकेरें। राक्षस और देवता दोनों जीवन के गिरते-चढ़ते आयाम हैं। मनुष्यता दोनों के मध्य है। मनुष्य यदि अपने भीतर बैठे स्वामी से प्रेम करने लग जाये तो जीवन ही मानवता का वह पहला मंदिर होगा जहाँ से सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की घंटियों की टंकारें सारे जहान में फैलती हुई दिखाई देंगी।

आत्म-बोध के अभाव में ही मनुष्यात्मा स्वयं को भूली-विसरी बैठे है। वह भीतर बैठे भगवान को नहीं, वरन् भीतर के स्वार्थ को ही मूल्य देती रही है। उसके लिए जीवन अतीत का नया संस्करण नहीं, वरन् मन की खटपट के चलते शरीर से शरीर की खिलवाड़ भर है।

किसी समय एक घटना बहुचर्चित रही है कि एक शेर का बच्चा अपना आपा भूलकर भेड़ों के टोले में जा घुसा। जात का असर ! वह गरजने की बजाय 'मिमियाया' करता। इस तरह उसकी जिन्दगी ही गुजर गयी, पर जब उसने दूसरे शेरों को गरजते हुए सुना, भेड़ों पर टूटते देखा तो पहली बार उसके अन्तरमन में यह प्रश्न कौंधा—अगर 'वे' भेड़ें नहीं हैं, तो फिर मैं कौन हूँ। अपने इस प्रश्न के जवाब में वह काफी भटका, वर्षों विचलित और अभीप्सित रहा। एक दिन अकेले

ही वह जंगलों और गुफाओं की ओर चल पड़ा। रास्ते में पड़े सरोवर में पानी पीने के लिए उतरा। पानी शान्त, निस्तरंग था, आईने का काम कर गया। और यूँ आत्मबोध हुआ। जाग उठी सत्ता-भीतर सोये पड़े सिंहत्व की।

मनुष्य का दुर्भाग्य, उसने सदा मुखड़ा ही दर्पण में देखा, अपने आपको देखने की कोशिश नहीं हुई। सिकन्दर या हिटलर ने चाहे जितने लोगों को अपने प्रति झुकाया होगा, पर सम्मान गांधी-पुरुष ही पा सकते हैं, पूजा बुद्ध-पुरुषों की ही होती है। 'सम्बोधि' कोई धर्म या धर्म की शब्द-परम्परा नहीं है। यह बोध है, आत्मबोध है, भीतर बैठे देवता को जगाने का उपक्रम है।

हर प्राणी आत्म-सम्पदा से युक्त है, फिर भी आत्म-बोध के अभाव में आत्मवान् नहीं है। आखिर मनुष्यात्मा अपने आपको भूली क्यों? पहली बात तो यह है कि जो चीज सदा साथ हो, पास हो, व्यक्ति को उसका मूल्य ही नहीं लगता। खोने से ही वस्तु के महत्त्व का बोध होता है। मछली पानी में रहे, तो पानी का महत्त्व सामान्य लगता है। बाहर निकलने पर प्राणों के लिए जो तड़फन होती है, उसी से पता चलता है कि पानी का महत्त्व क्या है। मनुष्य जीवनभर आत्मा को भूला रहता है। शरीर से प्राण-पखेरू उड़ने को होते हैं और आत्मा के बगैर जीवन मुर्दा लगता है, तभी आत्मा के महत्त्व और निस्तार के प्रतिमानों का हमें अहसास होता है।

आत्मा के सदा साथ रहने के बावजूद, मनुष्य अपने विकृत चित्त के मायाजाल में ऐसा फंसा हुआ रहता है कि आत्म-सुख की उसे स्मृति ही नहीं आती। वह विकारों की आपूर्ति करके ही स्वयं को संतुष्ट-परितृप्त पाता है। आत्म-सुख

इन्द्रिय-सुख नहीं, अतीन्द्रिय सुख है। शरीर और मन के संवेगों और उद्वेगों के तिरोहित होने पर ही आत्मिक मार्ग के दरवाजे खुलते हैं। देह-सुख के भूल-भुलावे में ही व्यक्ति स्वयं को भूल बैठा है। भटक रहा है।

बोध के अभाव में ऐसा ही होता है। पत्थर पूजा जाता है, पुरुष दुत्कारा जाता है। एक ओर फूल चढ़ाये जाते हैं दूसरी ओर कांटे गड़ाये जाते हैं। सभाओं में अहिंसा और शांति के कपोत उड़ाये जाते हैं, पर मंचों की ओट में शस्त्रास्त्रों के कारखाने चलाये जाते हैं। ज्ञान की बातें महज उपदेश बन जाती हैं और उपदेश मानो औरों को ही देने के लिए होते हैं। अधिकारों के नाम पर न जाने कैसे-कैसे प्रपंच और महाभारत रचे जाते हैं। स्वयं का बोध होने पर ही वास्तविकता के प्रति वफादारी आती है। फिर केवल पुरुष ही नहीं पूजा जाता, पत्थर में भी परमात्मा का रूप देख लिया जाता है। फूलों के बदले में तो फूल दिये ही जाते हैं पर ज्ञानी व्यक्ति तो कांटों के बदले में भी फूल ही लौटाता है। फिर ज्ञान बखानने के लिए नहीं, जीने के लिए होता है। अन्तर-बोध हो जाये, तो अपनों में और औरों में कोई फर्क ही नहीं लगेगा। फिर तो शहरों की भीड़ में भी एकत्व का आनन्द होगा और जंगल की नीरवता में भी शून्य का संगीत सुनाई देगा।

मैंने तो धर्म का यही रूप जिया है कि अपने प्रति ईमानदार रहो, अवचेतन के प्रति जागरूक रहो, सबकी सेवा करो, सबसे प्यार करो, सबमें घुलमिल जाओ और हर ठौर परमात्मा का आनन्द लो।

आत्मबोध की आवश्यकता इसलिए है ताकि व्यक्ति स्वयं के प्रति भी श्रद्धान्वित हो और औरों की आत्म-अपेक्षाओं

को भी समझ सके। रोग, कषाय और विकार को शरीर तथा मन का स्वभाव मानकर अपनी अन्तर-स्थिति को बरकरार रख सके। हमें आत्म-बोध और विश्व-प्रेम के साथ धरती पर जीना आना चाहिये। साधना द्वारा पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त करना अथवा आकाश में उड़ने की शक्ति अर्जित करना यह साधना का आध्यात्मिक रूप नहीं है। पानी में तैरना या आकाश में उड़ना तो मनुष्य का मत्स्य-जन्म है, पक्षी-जन्म है। मनुष्य की सार्थकता तो इसी में है कि वह सच्चा मनुष्य बनकर मनुष्य के साथ जी सके। अपने पाँवों के बलबूते धरती पर चलने का आत्म-बल बटोर सके।

औरों पर तो हमें प्रेम के मोती लुटाने ही हैं, पर सबसे पहले हमें आत्म-सुधार पर ध्यान देना चाहिये। मनुष्य के पास सृजनात्मक शक्तियों की पूरी सम्भावना है। वह अपनी स्वार्थी और विकृत प्रकृति को बदले, साथ ही अपने आत्म-विश्वास को उपलब्ध कर स्वयं में नई शक्तियों एवं सम्भावनाओं को भी जन्म दे। हर रोज कम-से-कम सुबह-सांझ तो अपने भीतर का निरीक्षण कर ले, अपनी कमजोरियों को दूर कर ले। स्वयं तो परम शांति में जिये ही, औरों को भी अपनी ओर से सौरभ प्रदान करे।

हमें सबके लिए भी जीना आना चाहिये। व्यक्तिगत अभ्युदय के साथ समष्टि का अंग बनकर जीना चाहिये। केवल काम और अर्थ ही हमारा पुरुषार्थ न हो, धर्म और मोक्ष भी हमारे पुरुषार्थ और लक्ष्य होने चाहिये। इस पुरुषार्थ के लिए ही कभी आश्रम की व्यवस्था की गई। आश्रम का अर्थ मठ या मठाधीश होना नहीं है। आत्मोदय के साथ सर्वोदय के विचार व भाव ही आश्रम-व्यवस्था की आधारशिला हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम पहलवानी के लिए नहीं, वरन् निर्मल चित्त से सेवा, विनय और ज्ञानार्जन के लिए है। गृहस्थाश्रम भोगाश्रम नहीं, बल्कि अर्थ और काम द्वारा सांसारिक धर्मों को निभाते हुए, एक से अनेक में बढ़ते हुए जनसेवा तथा समाज-सेवा करना है। वानप्रस्थाश्रम वन की ओर पलायन नहीं, वरन् पारिवारिक सीमा से बाहर आकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को आत्मसात् करना है। संन्यास मात्र नाम-वेश बदलना नहीं है। यह तो सहिष्णुता, पवित्रता और आत्म-मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करना है।

हम स्वयं को पाखंड के बोझ से मुक्त करें और बोधपूर्वक स्व-पर सुखाय जीवन-मूल्यों पर अपने कदम बढ़ाएं। गृहस्थ और संन्यास की दूरियां मिटाते हुए हर व्यक्ति गृहस्थ-संत होने का प्रयास करे, जल में रहकर भी कमलवत् निर्लस।



पूर्वजन्म : पुनर्जन्म

हम अपनी जन्म-जन्मान्तर की कहानी के फिर से प्रकाशित हुए नये संस्करण हैं। कई बार हमारे लघुसंस्करण सामने आए हैं, तो कई बार जरूरत से ज्यादा विस्तृत। जोड़-तोड़, सार-विस्तार सदा जारी रहा है। हर जन्म हमारे लिए पुरस्कार स्वरूप होता है। हम जीवन और जगत् के रास्तों से गुजरते हैं। सही ढंग से न गुजर पाने के कारण अबोध-दशा में ही मर जाते हैं। जो संसार की पाठशाला में आकर यहाँ के पाठों को ठीक ढंग से नहीं पढ़ पाता, मृत्यु उसकी परीक्षा लेती है, अनुत्तीर्ण हो जाने पर वापस उसी पाठशाला में भेज दिया जाता है। पुनर्जन्म के पीछे यही पृष्ठभूमि है।

जीवन तो एक लम्बी शृंखला है। हर जन्म एक नई कड़ी बनता है और इस तरह जन्म-जन्मान्तर की यह जंजीर

लम्बी होती जाती है। मुक्ति हर बार बाधित हो जाती है। हम जीवन में ऐसे संकल्प, संस्कार और इच्छाएं निर्मित कर लेते हैं कि हमें उनकी आपूर्ति के लिए फिर जन्म लेना पड़ता है। हर बार नये कर्म बंध जाते हैं। मनुष्य अपने एक जन्म में इतने संकल्प-विकल्प कर लेता है कि उनकी आपूर्ति के लिए पूरे सौ जन्म तक लेने पड़ जाते हैं। जब एक जन्म में नये सौ जन्मों की हैसियत है तो सौ जन्मों में भी वैसे ही वैर-विरोध, राग-विकार होते रहे, तो न जाने कितने नये जन्मों की संरचना होगी?

मनुष्य-जीवन का फूल सौभाग्य से ही खिलता है। धरती पर इतनी प्राणी-जातियां हैं, पर मनुष्य अपने स्वभाव से बढ़कर भी अपने में सम्भावनाओं को लिये रहता है। यों यहां मानवीय अथवा प्राणीमूलक जितने भी भेद-उपभेद दिखाई देते हैं, वे सब अपने ही अनर्गल संस्कारों के साकार रूप हैं, अपने ही किये-कराये कर्मों के परिणाम हैं। भले ही कोई किसी जात विशेष से नफरत करे, पर यह काफी कुछ सम्भव है कि हम भी कभी उस जात में जन्मे, जिये हों। हर जाति कर्म की जाति है, हर योनि कर्म की योनि है। बीज निमित्त बनता है, योनि जन्म देती है। जात अपने संस्कारों को उसमें स्थापित करती है।

अच्छी सम्भावनाएं हर जाति, हर योनि में हैं। पशु-योनि गलत कर्मों का परिणाम होने के बावजूद पशुओं में भी कुछ ऐसी सौभाग्यमयी सम्भावनाएं होती हैं कि वे भी मानवजाति के द्वारा इज्जत और मोहब्बत पा लेते हैं। गलत सम्भावनाएं मनुष्य-योनि में भी हैं। हमारी आन्तरिक-स्थिति तो देखो, हम मनुष्य-जन्म पाकर भी पशुता का आचरण कर जाते हैं, शायद किसी दृष्टि से तो पशु से भी बदतर हो जाते हैं।

हम पशु नहीं हैं, मनुष्य हैं, हमें यह बोध निरन्तर रखना चाहिये। पशु का काम सींग मारना है, मनुष्य का धर्म मारने की भावना से ऊपर उठना है। भला, जब हम अपने को मरवाना नहीं चाहते, तो औरों को मारना क्यों चाहते हैं? अन्ततः जीवों का वध अपना ही वध है। जीवों पर की जाने वाली दया अपने आप पर ही दया करना है। सत्ता की दृष्टि से सब एक हैं, सबका अन्तर-सम्बन्ध है। हमें भी, किसी भी द्वार से गुजरना पड़ सकता है।

आत्मदृष्टि से हमें सबके प्रति प्रेम और आत्मीयता रखनी चाहिये। मनुष्य ही क्यों, पशुओं और पंछी-पखेरू के प्रति भी स्वस्थ दृष्टिकोण इजहार करना चाहिये। फल-फूल-पत्ती-प्रकृति के हर अंश में प्रभु के दर्शन करने चाहिये। किसी को ओछा या नीच मानकर उसे छूने और बतियाने से परहेज रखना, न केवल अमानवीय है, वरन अपने ही साथ किया जाने वाला सौतेला व्यवहार है।

जीवन जन्म-जन्मान्तर से चल रहा प्रवाह है। किसी के प्रति ओछापन बरतकर हम अपने आपको ओछा न बनायें। हम अपने कर्म-बन्धन के प्रति सजग हों। कर्म वास्तव में हम पर ही लौटकर आने वाली हमारी ही प्रतिध्वनि है। यह हमारे ही अस्तित्व की प्रतिच्छाया है।

कर्म मनुष्य का कारनामा है।

कर्म सुशील हों, यह आवश्यक है। आत्म-शुद्धि और आत्म-मुक्ति के लिए तो हर तरह के कर्म-बन्धन से छुटकारा हो जाना चाहिये। किसी का सभ्य संस्कारित घर में जन्म लेना, वहीं किसी का गरीब घर में पैदा होना कर्म-परिणामों की ही

विविधता है। कोई स्त्री के रूप में जन्म ले रहा है तो कोई पुरुष के रूप में, कोई रोगी कोई निरोगी, कोई प्रतिभावान अथवा जड़बुद्धि, आखिर इन सब के पीछे हमारे द्वारा अतीत में बटोरे गये कर्मों की ही भूमिका है। कर्म कोई एक जन्म की कहानी नहीं है। यह जन्म-जन्म की कहानी है। किसी की आंख में यह मुस्कान है तो किसी की आंख में पानी।

पूर्वजन्म के कर्म जीव के पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। शुभ कर्मों का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। कर्म की सजा से बचा नहीं जा सकता। हर मनुष्य को तक्रदीर की मार झेलनी ही पड़ती है। बेहोशी अथवा सम्पूर्णित दशा में कर्म-नियति से गुजरे, तो कर्मों का कभी निरोध नहीं होने वाला। यह दलदल और फैलता चला जाएगा। पुराने कर्म अपनी भोग्य-दशा में और नये कर्मों का सृजन करवा लेंगे।

जो बोध एवं जागरूकता के साथ अपनी कर्मवृत्तियों का साक्षी है उसे कर्मों की चिनगारियां जला नहीं सकतीं। प्रगाढ़ कर्मों को जिये बगैर मिटाया नहीं जा सकता। पर हाँ! उनके प्रति तटस्थ तो रहा ही जा सकता है। तटस्थता, साक्षीभाव, दृष्टाभाव ही मनुष्य को अपनी कर्म-नियति से मुक्त करने में सबसे बड़ा मददगार होता है।

भीतर के शिखर पर बैठा साक्षी निष्कर्म है, निस्तरंग है। शान्त, परितृप्त और मौन है।

यह हमारा एक सुखद सौभाग्य है कि हमें अपने पूर्व जन्म की स्मृति नहीं है। जब इस एक जन्म की पूरी स्मृति रखनी कठिन हो रही है और जो है, वह भी इतनी चिंता और घुटन दे रही है कि अगर हमें पूर्व-जन्मों की भी स्मृति रहती

तो हमारा जीना कितना दूभर हो जाता। पूर्व जन्म की मां इस जन्म की पत्नी हो सकती है। पूर्व जन्म का पिता इस जन्म का पुत्र हो सकता है। घर में बंधा पालतू जानवर किसी जन्म का हमारा अपना ही सगा-सम्बन्धी रहा हो, तो जरा सोचो, हमें कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़े। हम या तो मानसिक रूप से अशांत-विक्षिप्त हो जाएं या फिर हंसते-हंसते खस्ताहाल। यह तो परमात्मा की कृपा समझो कि मृत्यु के साथ ही पूर्व स्मृतियां भी अस्तित्व की गहराई में तिरोहित हो जाती हैं।

कुछ लोग ऐसे देखने में आते हैं जिन्हें अपने पूर्वजन्म के प्रसंगों का स्मरण हो आता है। कई बार तो वे प्रसंग खोजवीन करने के बाद प्रमाणित भी हो जाते हैं, पर जरूरी नहीं है कि ऐसा हो ही। हमें पूर्व जन्म का जो बोध होता है अब यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्वजन्म कौन-सा रहा है। बिल्कुल पिछला ही अथवा उससे भी और पहले का। यदि स्वतः जन्मजात पूर्व स्मरण हो तब तो बात अलग है। सातत्य-बोध के कारण ऐसा हो सकता है। पर जहाँ किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान को देखकर किसी तरह का पूर्वबोध हो तो उसकी प्रामाणिकता तो वह बोध स्वयं ही है।

हम इस सिलसिले में पूर्वजन्म, पुनर्जन्म और पूर्णजन्म को समझें। 'पूर्णजन्म' से अभिप्राय आत्मा की कर्म-बन्धन से, जन्म-मृत्यु से मुक्ति है। पूर्वजन्म की स्मृति हमारे अवचेतन अथवा गूढमन की परतों के उघड़ने से होती है। जिसकी चेतन मन के पार पहुँच हो जाती है उसे कभी भी किसी भी क्षण अपने अन्तरध्यान में सम्बद्ध पूर्वजीवन की झलकियाँ नजर आ सकती हैं। सीधे बीते जन्म का भी बोध हो सकता है और पूर्वजन्मों में से किसी भी जन्म की झलक मिल सकती है। ध्यानयोग की

गहराई में भीतर के शून्य में पूर्व जीवन के दृश्य-दर्शन सम्भावित हैं।

ध्यान-साधना के अतिरिक्त इसमें निमित्त भी प्रभावी हो सकता है। किसी व्यक्ति या स्थान को देखकर हम क्षण भर में आकर्षित हो जाते हैं। उसे देखने से, उससे मिलने से हमें अपने अन्तर-हृदय में मानो एक सुकून मिलता है। एक अजीब-सी परितृप्ति अथवा बैचेनी महसूस होती है। आखिर इसका राज क्या है? जरूर कोई पूर्व सम्बन्ध है, योगानुयोग है। किसी का एक नजर में ही दिल में बस जाना, वहीं किसी का फूटी आँख न सुहाना—ये सब केवल आज के ही संयोग नहीं हैं। इनके पीछे कोई और बैठा है। जन्मान्तर की नियति काम करती है।

हमें जिन पूर्व घटनाओं का स्मरण होता है उनमें कुछ तो ऐसी होती हैं जिन्हें देखने-जानने के बावजूद हम सामान्य बने रहते हैं। जैसे थे वैसे ही। लेकिन कुछ घटनाएं ऐसी भी दिखाई दे सकती हैं जो हमारे जीवन को ही प्रभावित कर डालती हैं। कभी-कभी तो यह गले की फाँस ही बन जाती है। हमारी सोच-साधना की धारा ही बदल डालती है।

पूर्व स्मृत प्रसंग कृतकृत्य भी हो सकते हैं, संयोग-सम्बद्ध भी हो सकते हैं और विकृत भी। पूर्व स्मृति चाहे जैसी हो, वह व्यक्ति के वर्तमान जीवन को गिरा भी सकती है और नैतिक तथा आध्यात्मिक भी बना सकती है। वह किसी चक्रवात के घेरे में भी घिरा सकती है और हर घेरे से बाहर भी ला सकती है।

हम जो भला-बुरा कर्म करते हैं उनमें से कुछ का

परिणाम तात्कालिक होता है, तो कुछ का दूरगामी। हम जो आज भलाई अथवा बुराई करते हैं उसका फल भी हमें हाथोहाथ मिले, यह जरूरी नहीं है; ठहर कर भी मिल सकता है। यह भी सम्भव है कि उस कर्म का हिसाब-किताब करने के लिए हमें फिर से नया जन्म लेना पड़े।

हम आज जो कुछ कर रहे हैं या हमें जो फल मिल रहा है वह आज के अथवा पूर्वजन्म में से किसी भी जन्म के कर्मों का प्रतिफल हो सकता है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि हमारे बहुत सारे कर्मों का हिसाब इसी जन्म में चुकता हो जाता है पर जो कर्म अपनी प्रगाढ़ता बना चुके हैं वे हमारे भावी जन्मों में से किसी भी जन्म में उदय में आ सकते हैं।

कर्म, कर्म-वृत्ति अथवा कर्म-नियति कमजोर भी हो सकती है और सुदृढ़ संकल्पबद्ध भी। सामान्य वृत्तियां दमन, शमन और रेचन की प्रक्रिया से क्षीण हो सकती हैं, परन्तु जो कर्म हमारी चदरिया पर तेल के छीटे की तरह जम चुके हैं, उनका तो हमें भुगतान करना ही पड़ता है। बचने का पुरुषार्थ करने के बावजूद बचना कठिन लगता है।

जितना गहरा बन्धन हुआ है उतनी ही गहराई से संकल्पबद्ध कर्मों से मुक्ति का प्रयास हो तो कर्मों के बोझ से निर्भार होने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

कर्मों का कैसा भी परिणाम क्यों न हो, हम पाप की उपेक्षा करें, पापी की नहीं। अपने भले-बुरे कर्मों के कारण ही व्यक्ति भला-बुरा कहलाता है। हम अपने कर्मों के प्रति सावधान हों, यह जरूरी है। यदि कोई गलत राह पर चलने का प्रयास करे, तो यथासम्भव हम उसे सुधरने की प्रेरणा दें। उसका भव

सुधारें, उसके भाव सुधारें, उसकी राह सुधारें। संसार-चक्र में धर्म-चक्र का प्रवर्तन करें।

‘पूर्ण जन्म’ के लिए पूर्ण पवित्रता चाहिये। चाहे कोई कितना भी क्यों न गिरा हो, वह जब भी अपने-आपको सुधारना और सन्हालना चाहे, घुप्प अंधकार के बावजूद रोशनी की पहल कर सकता है, भीतर के देवता को दीपदान कर सकता है, अर्ध्य चढ़ा सकता है। चेतना के शिखर पर साक्षी की बैठक ही जन्म-जन्मान्तर से मुक्त होने की विधि है, एक स्वच्छ-सम्यक् अभियान है।



स्वर्ग-नरक

श्रद्धा का पहला केन्द्र-बिन्दु मनुष्य की अपनी आत्मा ही है। जिसका अपने-आप पर विश्वास नहीं, वह औरों पर क्या विश्वास करेगा ! आत्म-विश्वास के अभाव में व्यक्ति खुद भी विश्वसनीय नहीं रहता।

आत्म-भाव का सर्वोदय होने पर ही व्यक्ति अहंकार, मनोविकार और देह-राग के अंध-तमसू से बाहर जा सकता है। सार-सूत्र एक ही है कि हमारा 'मैं', हमारे मनोविकार और देह-राग कम हो। हमारे काम-क्रोध की ग्रन्थियां शिथिल हों। आत्म-भाव और आत्म-विश्वास ही हमें अपने निजी परमात्म-स्वरूप की ओर बढ़ा सकते हैं। जो स्वयं के जीवन को मात्र शरीर के हास और विकास तक ही सीमित रखता है, उसके सुख को ही सुख मानता है, उसके खून के रिश्ते को ही रिश्ता

मानता है, उसके लिए अध्यात्म के सारे द्वार-दरवाजे बंद हैं।

उन लोगों की मानसिकता संकीर्ण है जो अपने पूर्वापर अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखते। आत्म-निश्चय हुए बगैर तो हम सर्वतोभावेन मृदुल और पवित्र नहीं हो सकते। हमारा मन चिंतित होगा और बुद्धि बांझ। सम्भव है, शरीर अथवा व्यवहार में हमसे कोई पाप न हो, पर मन तो पाप करता ही रहेगा। दिव्यता का संवाहक कीचड़ से सना कमल होगा।

मैं पुण्य रूप था, पाप बना,
मेरा जीवन है पंक सना।
गढ़नी थी उज्ज्वल मूर्ति एक,
पर मैं धुंधला इतिहास बना।

मनुष्य की दुर्दशा तो देखो, वह क्या से क्या हो चला है। मनुष्यता में पशुता सिर चढ़ बैठी है। इतना स्वार्थ ! झूठ-सांच ! क्या यही हमारा आत्म-गौरव है? क्या यही कुल-गौरव, समाज-गौरव या धर्म-गौरव है?

हमने विषधर सांप देखे हैं, पर यह मत भूलो कि मनुष्य भी विषधर है। वह जनम-जनम का विषपायी है। उसके सूक्ष्म शरीर में इतना जहर है कि वह अमृत-घर में जाकर भी वहाँ से विषपान कर आयेगा। शिक्षा की कमी तो दिन-ब-दिन मिटती जा रही है, पर बोध न होने के कारण वह धूम्रपान को सुख मानकर अपनी धमनियों में जहर फैला रहा है। बेचैनी से बचने के लिए शराब पीकर शरीर-शक्ति को काट रहा है। पौष्टिकता के नाम पर मांसाहार करके मानो अपने-आपको ही खा रहा है।

मानवजाति ने बड़े तीखे जहर पाल रखे हैं। कभी देखा, क्रोध कितना जहरीला होता है? सर्प का जहर तो औरों को ही घात पहुंचाता है, पर क्रोध औरों को तो आग लगाता ही है, खुद को भी सुलगाता है। क्रोध की तरह ही काम को ले लो। काम तो इतना बदतमीज है कि इसने आंख, नाक, कान—सबको विकृत बना रखा है। काम माया का मालिक है। काम का मायाजाल ही कुछ ऐसा है कि जानवर हो या इंसान, सब खुद-ब-खुद जाकर इसमें उलझ जाते हैं।

हालांकि विकृत मार्ग से गुजरते रहने पर अन्ततः मनुष्य उकता जाता है। वह कई बार सोचता है कि वह अपने संवेगों और कमजोरियों पर आत्म-विजय प्राप्त करे, पर खुजली का रोगी खुलजाने के लिए मानो मजबूर हो जाता है। आखिर यह छूटे भी तो कैसे, जब तक व्यक्ति यह निश्चय ही न कर पाये कि वह आत्मा है, उसे मुक्त होना है, चाहे जो बाधाएं आएँ पर उनसे पार लगना है।

किसी का सुधरना या सुधारना मुश्किल है, पर अगर व्यक्ति खुद ही सुधरने के लिए जागरूक हो जाये, तो दुनिया में ऐसी कौन-सी अड़चन है, जिसे पार न पाया जा सकता हो।

हम संकल्प लें-

मैं अपने शरीर को स्वस्थ-प्रसन्न-पवित्र रखूंगा।

मैं अपने विचारों को स्वस्थ-प्रसन्न-पवित्र रखूंगा।

मैं अपनी बुद्धि को स्वस्थ-प्रसन्न-पवित्र रखूंगा।

वस्तुतः शारीरिक, वैचारिक और बौद्धिक स्वस्थता-प्रसन्नता-पवित्रता ही आत्मा को स्वास्थ्य, आनन्द और निर्मलता

प्रदान करने की प्रक्रिया है। सुकृत मार्ग पर बढ़ते हुए संकल्प, विचार और व्यवहार जीवन के लिए अमृत हैं। विकृत मार्ग पर जाता हुआ जीवन हमारे लिए विषपान है।

मन के विकारों और संवेगों की परितृप्ति के लिए तो अब तक ढेर सारे प्रयास हो गए। मन की शान्ति और वुद्धि की समग्रता के लिए हमें सजग होना चाहिये। मन के ऊपर उठकर, अतिमनस् जगत् में जी सकें, तो हम उस जगत् में जी सकते हैं जो निष्कपाय और निर्विकार है। आनन्द और अहोभाव से परिपूर्ण है। हम प्रतिदिन स्नान करें, साफ-सुथरे कपड़े पहनें। स्वास्थ्य-लाभ के पूरे इंतजाम होने चाहिये। हवा-पानी-भोजन की स्वच्छता-सात्विकता बनी रहनी चाहिये। कोई भी काम करते समय हम इतना जरूर देख लें कि वह अमानवीय, तामसिक अथवा अहितकर न हो। विचारों में ऊंचाई हो और जीवन में सादगी। कम बोलें, धीरे बोलें, मधुर बोलें। मन को क्रोध की वजाय मैत्री का माधुर्य दें। अहंकार की वजाय विनम्रता का पाठ पढ़ायें। प्रपंच की वजाय पारिवारिकता के भाव को विस्तार दें। संग्रह और लोभ के स्थान पर सेवा और दया की भावना रखें।

हम अपने आत्मिक सुख और आन्तरिक पवित्रता के लिए स्वयं तो प्रयास करें ही, परम पिता परमात्मा से भी नैतिक और आत्मिक बल प्रदान करने की प्रार्थना करें। परमात्मा सांसारिक और अपवित्र भावों से मुक्त है। वह सद्गुणों का सागर है। परमात्मा के पास देने के लिए है पवित्रता, दिव्यता, शान्ति, शक्ति, सम्बोधि। वह हमें ऐसी शान्ति, प्रेम और ज्ञान प्रदान करता है, जिसका सम्बन्ध हमारे अस्तित्व-सुख और आध्यात्मिक विकास से है।

हमें अपना आत्म-बोध कायम रखते हुए परम प्रभु का सदा स्मरण रखना चाहिये। परमात्मा की याद हमें गलत मार्ग पर जाने से रोकेगी, सही मार्ग पर चलते रहने की प्रेरणा देगी। सम्यक् मार्ग पर चलने वाले लोग संसार-सागर पर तैरने वाले दीप हैं। धरती के सच्चे देवता तो वही हैं, जो जीवन में दिव्यताओं को आत्मसात् किये रहते हैं।

देवता और राक्षस—दोनों तरह की प्रवृत्ति के लोगों का धरती पर वसेरा है। हमारे बीच ही राक्षस जीते हैं और हमारे बीच ही देवता। जब कोई हर तरह के लाज-शर्म-भयाना को त्यागकर हिंसा और बलात्कार पर उतर आता है, तो लोग कहते हैं—पता नहीं, यह इंसान है या जानवर ! आतंक और क्रूरता पर उतारू हुए लोगों के लिए ही कहा जाता है—यह शैतान है, राक्षस। जबकि शान्त, भद्र और वेदाग जीवन देखकर ही हम किसी के प्रति कहा करते हैं—यह आदमी नहीं, देवता है।

देवता पूजा जाता है। उसकी संगति तो दूर, दर्शन भी सौभाग्य-वर्धक है। देव-पुरुष हमारे अन्तरहृदय में दिव्यता की एक किरण उतार जाते हैं। देवता उन्हें मानो जिनके पास बैठने मात्र से मन की कलुषितता तिरोहित होती है, मन को शान्ति और सुकून मिलता है।

मनुष्य देवता हो सकता है। मनुष्य अपने में स्वर्ग को जी सकता है। वह शीलवान्, समाधिवान्, प्रज्ञावान् हो सकता है। वह वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह हो सकता है। स्थितप्रज्ञ, अनासक्त और जीवन-मुक्त हो सकता है। प्रेम, सेवा और करुणा से ओतप्रोत हो सकता है। जातपात के भेदभाव से मुक्त होकर सामाजिक समता को जी सकता है।

हम अपने जीवन को सुधारें, मंगलकर बनाएं। धर्म-ध्यान पूर्वक जिएं। सुख-शांति से जीने के लिए ही धर्म है। मृत्यु के बाद आसमान में बने स्वर्ग को पाने के लिए अथवा पाताल में बने नरक से बचने के लिए धर्माचरण की पहल न करें। नरक और स्वर्ग दोनों हमारे भीतर हैं। भीतर में जल रही आग नरक है, उसे बुझाना धर्म है। भीतर में स्वर्ग के स्रोत हैं, उन्हें उपलब्ध करना धर्म है। अभी स्वर्ग तो बाद में भी स्वर्ग; अभी नरक तो बाद में भी नरक।

हर मनुष्य पतित से पावन हो सकता है, शैतान से देवता बन सकता है। नर से नारायण हो सकता है। सरलता, प्रसन्नता, आत्मीयता, प्रामाणिकता और निर्भीकता—ये पांच गुण मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करते हैं। वस्तुतः हमारे आचार-विचार पर सात्विक और दैवीय गुणों का साम्राज्य होना चाहिये। हम सदा उस प्रेम से प्रेरित रहें जो आत्मा को आत्मा का सुख और साहचर्य प्रदान करे। अन्तरात्मा की दिव्यता ही मनुष्य को देवता बनाने का सहज सरल सूत्र है।

परमात्मा

परमात्मा अस्तित्व की सर्वोपरि सत्ता है। अस्तित्व और परमात्मा के बीच एक पुलक भरा सम्बन्ध है। परमात्मा किसी दर्शन-शास्त्र की अवधारणा नहीं, वरन् उसकी आभा और उसका वीतराग रास तो चारों ओर है, सर्वत्र है।

परमात्मा मेरे भीतर भी है और तुम्हारे भीतर भी। प्रेम और प्रणाम का भाव अपने प्रति भी हो और औरों के प्रति भी। औरों को प्रेम दें और अपने आपको कष्ट, यह कौन-सी भक्ति हुई?

अस्तित्व में ऐसा कोई अंश नहीं है, जिसमें परमात्मा की संभावना से इंकार किया जा सके। हम उसे केवल अपनी ही आंखों में झांक सकते हों, ऐसा नहीं है। यदि अन्तर-दृष्टि में उसकी पुलक पैदा हो जाये, तो हर ठौर वही झलकता हुआ

नजर आएगा। कभी प्रकृति की गोद में जाकर बैठो तो पता चले कि वह हर फूल, हर डाल पर है। झरनों से लेकर पहाड़ों तक, समुद्र से लेकर आसमान तक, फूलों से लेकर चांद-सितारों तक वही तो विविध रंग में मुस्काता है, लहराता है।

परमात्मा की उपस्थिति का अहसास तभी होता है, जब हमें अपना अहसास हो। जैसे ही हमें अपना अहसास होता है, हम उसे अपनी ही बांहों में मौजूद पाते हैं। मैंने उसकी कोई प्रतिमा नहीं बनायी, पर जो भी प्रतिभाएं हैं, उन सबमें उसको देख रहा हूँ। फूलों से सौरभ आती है और प्रभात के पुष्प परमात्मा को समर्पित कर दिये जाते हैं। किससे वचूं, किससे लगूं—यह सोच ही कहाँ ! जब पूरे अस्तित्व में उस परम-आत्मा, परमात्मा, परमेश्वर की मौजूदगी महसूस होती हो।

सम्भव है, बहुत सारे लोग दुनियादारी के भुलावे में परमात्मा को भूल जाएं अथवा न भी मानें, पर व्यक्ति जब कभी भी स्वयं को व्यथित और असहाय पाता है, कम से कम उस समय तो अवश्य ही उसका अन्तरहृदय स्वतः परमात्मा को पुकार उठता है। हालांकि यह सच है कि परमात्मा किसी का भला-बुरा नहीं करता, कर्तृत्व-भाव से मुक्त होने के कारण ही वह सत्ता परमात्मा कहलाती है। पीड़ा और संघर्ष की वेला में भी हम परमात्मा को इसलिए याद करते हैं, ताकि हमारा मनोबल बना रहे, परमात्मा की शक्ति हमें नैतिक बल प्रदान करती रहे।

परमात्मा के ज्योति-प्रदेश सम्पूर्ण अस्तित्व में व्याप्त हैं। जो भी आत्माएं जन्म-मरण की संस्कार-धारा से मुक्त हो जाती हैं, उनके निर्मल आत्म-प्रदेश सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर अपनी विराटता को उपलब्ध कर लेते हैं, बूंद महासागर हो जाती है।

मुक्त आत्माएं परमात्म-स्वरूप होती हैं। परमात्मा कोई व्यक्ति-वाचक नहीं है। आत्मा के अस्तित्व की परम अवस्था को उपलब्ध कर लेने का नाम है। मनुष्य की मुक्ति हो जाने के बाद मुक्त आत्माओं में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहता। सब समान हो जाते हैं। हर भाव से मुक्त हो जाते हैं। परमात्मा वास्तव में मुक्त आत्माओं को दिया जाने वाला एक सामूहिक सम्बोधन है।

परमात्म-सत्ता में कहीं कोई भेद नहीं होता। भेदों का निर्माण तो मानव-मन करता है। परमात्मा अमन है, मन की अनर्गलता से मुक्त है। जो भेद नजर आते हैं, वे जन्म, जाति, रंग, धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा की उठापटक के चलते नजर मुहैया होते हैं। जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति के बाद तो सारे भेद गिर जाते हैं। परम अभेद दशा उपलब्ध हो जाती है। परम आत्म-स्वतन्त्रता का संगान होता है। उस भागवत् दशा में होता है—परम शांति, परम ज्ञान, परम आनन्द।

परमात्मा का स्मरण हम इसलिए करते हैं ताकि उसकी शांति, ज्ञान और आनन्द की उर्मियां हमें भी मिल सकें। निश्चय ही परमात्मा सर्वत्र है। विदेह होने के कारण परमात्मा के कान नहीं हैं, लेकिन वह फिर भी सुनता है। आंखें नहीं हैं, फिर भी देखता है। पांव नहीं हैं, फिर भी चलता है। वह तो सदा ध्यानस्थ है, ज्योति स्वरूप है, परम चैतन्य स्वरूप है। आनन्द का सागर है। वह ऐसा प्रकाश है, जो जन्म की त्रासदी और मृत्यु के अंधकार से विमुक्त है।

दिव्यता की प्यास हो, तो ही परमात्मा से हमें कुछ मिल सकता है। वह हमारा तीसरा नेत्र बन सकता है। हमारे अन्तरहृदय के मानसरोवर में वह राजहंस की भांति उन्मुक्त

विहार कर सकता है। अज्ञान और दलदल से घिरी इस अंधी प्राणीजाति के लिए परमात्मा एक हरी-भरी मुस्कान है।

यह मानना हमारी निरभिमानता और सौहार्दता है कि धरती पर जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा का आविष्कार है। वस्तुतः जो कुछ भी परिवर्तन अथवा संचलन दिखाई देता है, वह सब प्राकृतिक है, नैसर्गिक है। प्रकृति की अपनी व्यवस्थाएं हैं। संतुलन बनाये रखने के लिए उसके अपने मापदंड हैं। परमात्मा तो प्रकृति पर भी सदा कृपापूर्ण ही रहता है। प्रकृति के हर अंश में परमात्मा का नूर है। जरा, मुस्कुराती नजर उठाओ, डाल-डाल, पात-पात उसी की आभा झलकेगी।

यह गौरतलब है कि परमात्मा की दिव्य सत्ता के अंश हम सब में हैं, सारे अस्तित्व में हैं, पर हम परमात्म-रूप नहीं हैं। हाँ, हम वैसा हो सकते हैं। अमन की दशा उपलब्ध हो जाये, प्राणों में समाये अन्तस्-आकाश को खोज लिया जाये, तो भीतर भी और बाहर भी, दोनों तरफ परमात्मा की खिलावट हमें प्रमुदित करेगी।

चूँकि परमात्मा की सत्ता का आभामंडल सारे अस्तित्व में, दिग्-दिगन्त व्याप्त है, इसलिए हम उसकी आभा से अछूते नहीं हैं, परन्तु हमारे द्वारा भले-बुरे काम करवाने का दोष हम परमात्मा के मत्थे नहीं मढ़ सकते। करने वाला परमात्मा नहीं, वरन् आत्मा है, हम स्वयं हैं। वास्तव में आत्मा की कर्तृत्व-मुक्ति ही जीवन में परमात्म-स्वरूप की पहल है।

भला-बुरा जो कुछ भी होता है, वह आत्मा के सहचर के रूप में साथ रहने वाले कर्मों के कारण है, आत्म-अहंकार के कारण है, मन के आदेशानुसार गलत-सलत करते रहने की

वजह से है।

हर जीव की अपनी कर्म-नियति और प्रकृति होती है। मनुष्य एक पर एक कर्म करता चला जाता है। पूर्वकृत कर्मों पर नये कर्मों की परतें चढ़ जाती हैं। जब वे कर्म उदय में आते हैं, तो मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को अपने चक्रव्यूह में घेर लेते हैं। वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। सच में तो हमें अपने मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों पर निरन्तर ध्यान देना चाहिये, ताकि नये कर्मों की पथरीली परतें निर्मित न हों और पूर्वकृत कर्मों को हम भीतर के शिखर पर बैठकर ध्यानपूर्वक देख लें, समझ लें, भोग लें, क्षय कर लें।

मनुष्य एक मंदिर है और जीवन एक तीर्थयात्रा, पर स्वयं को मन की पुनरुक्ति और आपूर्ति का पर्याय बना लिये जाने के कारण ही जीवन का सत्य हर मूल्य से नीचे गिर गया है।

मनुष्य चाहे कितना भी गलत से गलत काम क्यों न करे, पर एक बार तो उसकी अन्तरात्मा उसे गलत राह पर चलने से अवश्य टोकेगी। मनुष्य देह-भाव और परिस्थितियों से मजबूर होकर अपनी अन्तरात्मा की आवाज को ठुकरा देता है। उस पर ध्यान नहीं देता और गलतियों पर गलतियां दोहराता रहता है, ठोकर पर ठोकर खाता रहता है। यही मनुष्य का अज्ञान है और शायद यही उसकी कर्म-नियति।

काम चाहे गलत हो या सही, उसे करने वाला मनुष्य स्वयं है, न कि कोई और सत्ता। जब हम अपने किसी श्रेय को परमात्मा पर डालते हैं, तो उसका कारण यह नहीं कि वह

काम परमात्मा ने करवाया वरन् इसलिए कि उस सफलता के कारण हममें अहं-भाव न आ जाये कि यह काम मेरे कारण हुआ। मैं ही था जो सफल हो गया। आत्म-अहंकार से वचने के लिए ही परमात्म-कर्तृत्व को स्वीकार किया जाता है।

अपनी सफलता को परमात्मा की कृपा मान लिया जाये, तो हमारी हर सफलता, हमारी ओर से परमात्मा को भावभरा अर्ध्य चढ़ाने के समान है। कर्ता-भाव से छुटकारा ही, जीवन में मुक्ति-भाव को जीना है।

मरने वाला भी व्यक्ति है और वचने वाला भी। अगर उसके अपने नसीब हैं, तो किसी की लाख कोशिश के बावजूद वह बच जायेगा। परमात्मा संहारक या मारनेवाला नहीं हो सकता। वह तो दयालु और कृपालु है। वह किसी को क्यों मारेगा? वह तो अस्तित्व की पुलक है, फूलों की लाली है। झरनों का कलरव और परिंदों का संगीत है। परमात्मा अस्तित्व का हृदय है। वह मारता नहीं, तारता है। कर्मों की रेखा चुक जाने पर ही मनुष्य का संहार होता है। भगवान् भी मनुष्य की कर्म-नियति को मिटा नहीं सकते। इसीलिए कहता हूँ हमें अपने आप पर ध्यान देना चाहिये। अपनी आवाज को सुनना चाहिये। स्वयं में प्रतिध्वनित हो रही हर अनुगूँज पर कान देने चाहिये।

आदमी की नियति अथवा प्रकृति कितनी भी बुरी क्यों न हो, अगर हम अपनी अन्तरात्मा की आवाज को नज़र-अन्दाज न करें, उसका अमल करें, तो यह काफी कुछ संभावना है कि हम बदी की राह पर चलने से अपने आपको बचा लेंगे।

धरती पर रंग, रूप, शक्ति अथवा वैभव को लेकर

ढेर सारे भेद-भटकाव हैं, पर यह भेद-भटकाव कराने वाला परमात्मा नहीं है, वरन् हर मनुष्य की अपनी कर्म-दशा है। चूंकि हमारे कर्मों में समानता नहीं है, इसीलिए धरती पर भी असमानता है। जैसे जिसके कर्म अथवा जैसी जिसकी किस्मत, उसके लिए वैसा ही उसका प्रतिफल ! अगर हम अपने जीवन को परम-सुखी और परम-स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं, तो या तो बहते हुए तिनके की भांति हो जाओ या फिर अपनी कर्म-नियति बदल डालो। अपने सोचने और जीने की शैली को रूपान्तरित कर डालो। नई दृष्टि से हर चीज को देखने का प्रयास करो।

जो लोग धर्माचरण तो करते हैं, पर अपनी कलुषित-अन्तर-वृत्तियों को नहीं बदलते, उनका धर्माचरण उनके लिए आत्म-रूपान्तरण का कारण नहीं बनता। उससे तो मात्र धर्म का कथित व्यवहार निभ जाता है। व्रत-उपवास के नाम पर आदमी अमुक समय तक भूखा रह लेता है, पर अगर वह अपना काम-क्रोध नहीं घटा पाता, तो उसकी तपस्या और आराधना सार्थक कहाँ हो पायी? मंदिर में भगवान् की पूजा करे अथवा मस्जिद में खुदा की इबादत, यदि व्यवहार में गाली-गलौज, छल-प्रपंच, मेल-मिलावट जारी रहता है, तो यह वास्तव में अपने आप के साथ ही छलावा है, अच्छे बाने में कोढ़ का पलना है।

परम त्याग का पथ तो मनुष्य के भीतर है। परमात्मा का स्थूल रूप न होने से वह भले ही किसी को दिखाई नहीं देता, लेकिन आत्मिक पवित्रता और आध्यात्मिक विकास के लिए हमें परमात्मा से बेहिसाब मदद मिल सकती है। हवा का रूप दिखाई न देने का मतलब यह नहीं कि हवा नहीं है। इन पेड़ों से निकलती प्राण-वायु (ऑक्सीजन) दिखाई नहीं देती,

पर उसका अस्तित्व तो है ही। दिखाई देने से ही किसी तत्त्व की सिद्धि नहीं होती। परमात्मा अनुभव-दशा है, अन्तरदशा है, पुलक दशा है। वह आंखों-के-भीतर-की-आंखों से ही अनुभूत और उपलब्ध किया जाता है। परमात्मा मनुष्यात्मा की परम पवित्र और सम्पूर्ण मुक्त दशा का पर्याय है।

हम अपनी आत्मा में परमात्मा की दिव्यता का आह्वान करें। हम अपने मन को मारें नहीं बल्कि पवित्र प्रेम और भक्ति से शृंगारित करें। अपने सोच-विचार-बरताव में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के मूल्यों को साकार करें। आत्मा की धन्यता ही व्यक्ति को धन्य बनाएगी। वही परमात्म-स्वरूप का सान्निध्य प्रदान करेगी।

सबसे प्रेम करो,
सबकी सेवा करो,
सबसे मिलो-जुलो,
सबमें प्रभु के दर्शन करो।

यही सूत्र काफी है—अस्तित्व के साथ जीने के लिए,
परमात्मा के साथ पुलकने के लिए।

आत्म-शुद्धि के चरण

मनुष्य की समस्त उज्वल संभावनाएं जीवन से जुड़ी हैं। जिसका जीवन के प्रति सम्मान और अहोभाव है, वह हर पल, हर घड़ी अपने-आप में परमात्म-भाव को जीता है, परमात्मा के प्रसाद का अमृतपान करता है। जीवन का सम्मान और छोटे-बड़े हर प्राणी में प्रभु की मूरत स्वीकार करना, जहां प्रेम और अहिंसा का स्वस्थ आचरण है, वहीं जीवन और जगत् को माधुर्य और आनन्द से सराबोर कर लेना है।

मनुष्य की आत्म-निर्मलता के लिए वेश अथवा स्थान का परिवर्तन उतना महत्व नहीं रखता, जितना कि मन का परिवर्तन महत्व रखता है। कोरे कपड़ों को रंग लेने से क्या होगा अगर अन्तरमन अछूता रह जाये। हम जीवन को संसार और संन्यास में न बांटें। हर संसारी संन्यासी नहीं हो सकता।

सन्त तो अरिहंत का प्रथम रूप है। भले ही हम सन्त न हो सकें। पर शान्त तो हो ही सकते हैं। साधु-मुनि का बाना न पहन सकें, पर हृदय को तो साधु बनाया जा सकता है। मैं तो चाहता हूँ हर संसारी अपने-आप में साधु हो, हृदय से साधु ! साधुता और सज्जनता की रोशनी उसके आचार-व्यवहार में झलके। हर कोई पूरी तरह निर्व्यसन हो, माधुर्य और आनन्द से सराबोर ! गृहस्थ-संत होना ही मानवमात्र का उद्देश्य हो।

दीक्षा वास्तव में जीवन का उज्वल रूपांतरण है। हममें जो गलत आदतें पड़ गई हैं, कुसंस्कार आ चुके हैं, उन्हें छोड़कर सभ्य, संस्कारशील और पवित्र जीवन जीना ही हमारा प्राथमिक लक्ष्य एवं पुरुषार्थ होना चाहिये। व्यवसाय का कर्मयोग होना चाहिये, विवाह का गृहस्थाश्रम निभाया जाना चाहिये, सुख-सुविधाएं जीवन-यापन के लिये स्वीकार्य हैं, परन्तु हमें ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिये, जो हमारे दामन में दाग लगाए।

जीवन निरन्तर संघर्ष से भरा हुआ है। यदि हम अपने बोध, विवेक और ईमान को दरकिनार कर बैठेंगे, तो जीवन को जीना हमारे लिए इतना दुश्वार हो जाएगा कि हम जीने के नाम पर या तो लाश को कंधे पर ढोते फिरेंगे, या फिर जीवन को नरक बना डालेंगे। तब आत्म-हत्या, हमें जीवन-मुक्ति का एकमात्र उपाय नजर आएगा।

मेरे समझे, हमारे समक्ष दो मूल्य हैं—पहला है गति और दूसरा है स्थिति। हमें चालीस-पैंतालीस तक गति-प्रगति पर ध्यान देना चाहिये, जबकि शेष जीवन को स्थिति पर केन्द्रित करना चाहिये। गति विकास और विस्तार के लिए है, स्थिति आत्म-लीनता और परमात्म-स्मृति के लिए है। सिर पर आया

सफेद बाल हमें अपने बुढ़ापे और मृत्यु के इशारे हैं। मृत्यु आये, उससे पहले निर्वाण हो जाये, तो इससे बड़ा सौभाग्य क्या !

यदि हम गति और स्थिति को सदा अपना सकें, तो और अच्छा ! उम्र का कोई भरोसा नहीं है। चालीस की इंतजारी कौन करे? हर रोज गति होनी चाहिये और हर रोज स्थिति भी। गति हो सम्यक् आजीविका के लिए, स्थिति हो आत्म-शांति और आत्म-प्रमुदितता के लिए। हमें अपनी आत्म-शांति के लिए इतना पुख्ताबन्दोबस्त कर लेना चाहिये कि हमारे मरने के बाद हमारी आत्म-शांति के लिए किसी और को पूजा-पाठ करवाने की जरूरत न रहे।

आत्म-शुद्धि के तीन चरण हैं : दर्शन-शुद्धि, विचार-शुद्धि और आचार-शुद्धि। दर्शन, विचार और आचार-जीवन के ये तीन आधार-स्तम्भ हैं। इनकी शुद्धि जीवन की शुद्धि है।

दर्शन-शुद्धि

दृष्टि ही वह आधारशिला है, जिस पर जीवन-मूल्यों के ज्योति-कलश टिकते हैं। आंखें दो होती हैं, पर दोनों की रोशनी तो एक ही होती है। हमारे पास अपनी कोई दृष्टि नहीं है। हम उधार दृष्टियों से काम चला रहे हैं। हमारी दृष्टि में मिलावटें हो चुकी हैं। बगैर दृष्टि की पवित्रता के न विचार सात्विक रह सकते हैं और न ही तन-मन और आचरण को निर्मल रखा जा सकता है। अन्तर-दृष्टिपूर्वक जीना ही जीवन का सत्य सहज स्वरूप है। दर्शन-शुद्धि के लिए संकल्प लें -

9. मैं देह नहीं, आत्मा हूँ। देह में रहकर भी देह से भिन्न हूँ।

२. जन्म-जन्मान्तर के कलुषित कर्म-संस्कारों के कारण ही मैं दुःखी रहा हूँ। अब मैं अपनी आत्म-शुद्धि के लिए अपने हर कर्म-विकार के प्रति सावधान रहूँगा।

३. अपने मनोविकारों और कषायों का नियन्त्रण तथा शोधन करूँगा।

४. देह का अभिमान न रखते हुए इसे परमात्मा का मंदिर मानूँगा और सबके प्रति समदृष्टि रखते हुए वीतद्वेष-भाव से जीऊँगा।

५. गुणीजनों और उपकारी महानुभावों का सम्मान करते हुए मानवता को अपनी सेवाएं समर्पित करूँगा।

विचार-शुद्धि

विचार, शरीर और चेतना के बीच का सेतु है, जीवन और जगत् के बीच का सम्बन्ध-योजक है। व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, व्यक्तित्व वैसा ही निर्मित होता जाता है। हमारे विचार से हमारा व्यक्तित्व प्रभावित-आन्दोलित होता ही है। वास्तव में हमारे विचार ऐसे हों, जिनमें सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की सुवास हो।

मनुष्य के स्वार्थी विचारों ने उसकी मानसिकता को विकृत और लालची बनाया है। रंग-रूप, वेश-जाति, पैसा-प्रतिष्ठा, भोग-परिभोग मनुष्य के विचारों में इस कदर अपनी पैठ बना चुके हैं कि मनुष्य अपने आपको, अपने मूल्यों को भुला ही बैठा है। वह गिरावट की हर सीमा को लांघ चुका है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तो सबसे ज्यादा जरूरत मनुष्य के वैचारिक कायाकल्प की है।

हम अपने सोच की धारा को बदलेंगे, तो ही जीवन

का स्तर ऊंचा हो सकता है। विचारों के परिवर्तन के लिए हमें सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में जीना चाहिये। उन लोगों के साथ उठना-बैठना चाहिये, जिन्हें हम सज्जन-सत्पुरुष कहते हैं। रात को सोने से पहले हर रोज शान्त चित्त से अपने बारे में, अपने आचार-विचार के बारे में चिन्तन-मनन करना चाहिये और ज्ञात दुर्गुणों से स्वयं को दूर (प्रतिक्रमण) करते हुए जीवन में अच्छाइयों की रोशनी प्रगट करनी चाहिये।

विचार-शुद्धि के लिए हम संकल्प लें —

१. मैं अपना मालिक खुद हूँ। अपने-आपको औरों की गुलामी से बचाते हुए मैं आत्म-स्वतन्त्रा और आत्म-विकास में विश्वास रखूंगा।

२. किसी का अहित करना तो दूर, अहित करने का विचार भी नहीं करूंगा।

३. अपने विचारों को आत्म-भावना से भावित रखते हुए तन-मन में परमात्मा के प्रसाद और पुलक का अनुभव करूंगा।

४. विचारों में किसी तरह का दुराग्रह न रखते हुए सत्य का समर्थन और ग्रहण करूंगा।

५. प्रतिदिन स्वाध्याय का संकल्प लेते हुए तत्त्व-चिन्तन करूंगा। विचारों में वे दीये ज्योतिर्मय करूंगा, जो स्व-पर कल्याणकर हों, सत्य-शिव-सौन्दर्य के अनुरूप हों।

आचार-शुद्धि

हमारा आचार-व्यवहार, बोल-बरताव ही हमारे

व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति बनते हैं। मनुष्य अपने आचरण के कारण साधु-पुरुष भी कहलाता है और शैतान भी। पवित्र आचरण साधुता है, अपवित्र आचरण दुश्चरित्रता है। निर्मल और पवित्र आचार-व्यवहार मनुष्य को देवत्व प्रदान करता है।

बात-वेबात में क्रोध कर बैठना, सनक चढ़ना, औरों को अपने से हीन मानना, उपेक्षा करना, गाली-गलौज करना हमारे व्यवहारगत दोष हैं। धूप्रपान या मद्यपान करना, गलत नजर डालना, भीतर-बाहर का भेद रखना, छल-प्रपंच करना आचारगत दोष हैं। व्यक्ति तो क्या, समाज और देश तथा उसका नेतृत्व करने वाले भी इतने स्वार्थी और भ्रष्ट होने लगे हैं कि मानो कुए में ही भांग पड़ी हो। सभी सुधरें, अच्छी बात है। कम से कम हम तो ऊंचे उठें, देवत्व को जियें।

आचार-शुद्धि के लिए विनम्रता और सहिष्णुता अनिवार्य चरण हैं। हम सबसे मिलें, चाहे स्त्री हो या पुरुष, सबके प्रति सम्मानपूर्ण मैत्री भरा व्यवहार रखें। किसी को कुछ भी बोलें या लिखें, पर उसमें इतना माधुर्य हो कि हमारे दो वचन भी दूसरों के लिए फूलों का उपहार बन जायें। हमें जहां अपने आत्म-सम्मान को गिरने नहीं देना चाहिये, वहीं दूसरों के भी अदब-इज्जत का ध्यान रखना चाहिये।

आचार-शुद्धि के लिए संकल्प लें —

१. मैं किसी भी प्रकार के नशीले पदार्थ का सेवन नहीं करूंगा अपने खानपान की शुद्धता और सात्विकता के प्रति सजग रहूंगा।

२. न मैं किसी तरह का गलत काम करूंगा और न ही किसी और को गलत राह पर चलने को उत्साहित करूंगा।

३. मैं अपनी आजीविका की शुद्धता को बनाये रखूंगा। झूठ-फरेब और मेल-मिलावट न करने की प्रतिज्ञा करते हुए सच्चाई और ईमानदारी से वांछित साधनों का अर्जन करूंगा।

४. घर में ऐसा माहौल बनाये रखूंगा कि घर भी स्वर्ग जैसा सुन्दर-सुखद हो। फिर चाहे इसके लिए मुझे कुछ भी 'त्याग' क्यों न करना पड़े।

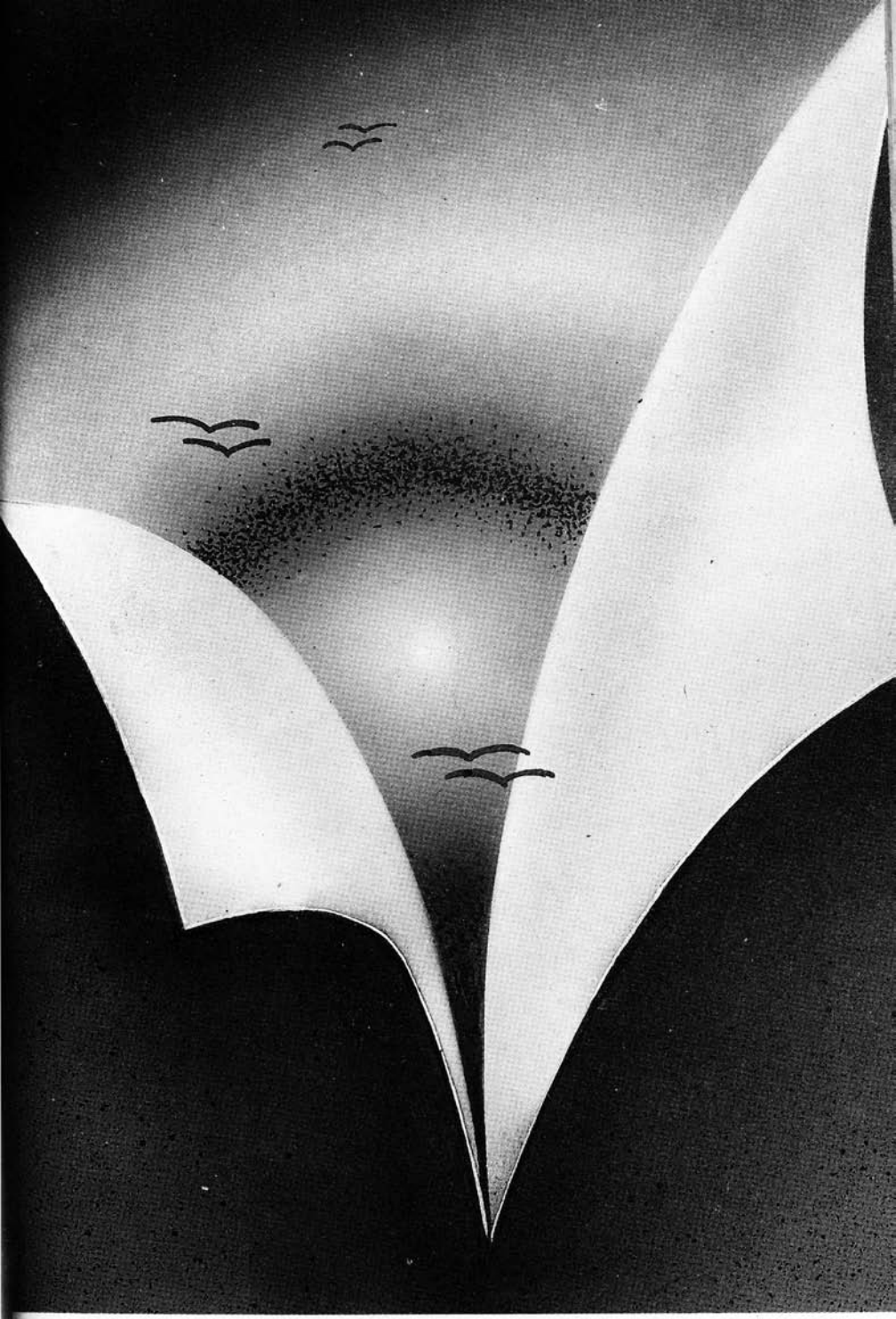
५. औरों के सुख-दुःख में काम आऊंगा। नेकी करूंगा और भूल जाऊंगा।

आत्म-शुद्धि के ये चरण मानव-मुक्ति के लिए हैं, मनुष्य के देवता बनने के लिए हैं। हमारी दृष्टि, हमारे आचार-विचार सम्यक् और पवित्र हों, तो जीवन मानवीय भगीरथ द्वारा धरती पर लायी गई स्वर्गागन्तुक गंगा है। सुख-शांति और प्रेम का सागर, रत्नाकर !

मानव-मुक्ति

जितना बड़ा संसार हमारी आंखों के सामने फैला हुआ है, उससे कहीं ज्यादा हमारे भीतर बसा है। भीतर के संसार को पहचानने और उससे मुक्त होने के लिए ही ध्यान का मार्ग है। बगैर ध्यानयोग के हमारा अन्तर्-विश्व अज्ञात बना रहता है। ध्यानयोग से जहाँ स्वास्थ्य, ताजगी और स्फूर्ति मिलती है, वहीं अन्तरद्वन्द्व से मुक्ति और चेतनागत विकास भी होता है।

ध्यान हमें हर चीज को नये नजरिये से देखने की क्षमता प्रदान करता है। मुक्ति हर कोई चाहता है, पर मुक्ति का मार्ग किसी निश्चित राह से नहीं गुजरता। उसे खोजना पड़ता है। यदि हर चीज को नये सिरे से देखने की दृष्टि उपलब्ध हो जाये, तो मुक्ति के भी नये-नये द्वार-दरवाजे खुल सकते



हैं। नई सम्भावनाओं का चमत्कार घटित हो सकता है।

ध्यान शान्त मनस् की साधना है। गूढमन की गहराई में उतरने पर ही चेतनागत समस्त सम्भावनाओं से साक्षात्कार होता है। आनन्द और परम-धन्यता का भाव घटित होता है। गहन मौन में स्वयं से संवाद होता है। यह अनुभव-दशा है, अनुभव से भी बढ़कर बोध-दशा है।

जिसे हम आत्म-दर्शन कहते हैं, वह वास्तव में स्वयं का दर्शन है, सत्य का दर्शन है। ध्यान, अपने वारे में सच्चाई की खोज है, अस्तित्व के गर्भ में प्रवेश है। अपने आपको शरीरगत एवं इन्द्रियगत अनुभूति तथा संवेदना से ऊपर उठाते हुए शांत चित्त से अपने भीतर बैठे शाश्वत-परम सत्य को जीना ही ध्यान है, सम्बोधि है।

मनुष्य सरल, प्रसन्न और निर्विकार जीवन जिए, ध्यान-भावना के पीछे यही उद्देश्य है। हम सुबह-शाम ध्यान करें, प्राथमिक दौर में यह जरूरी है, पर हमें तो हर काम ध्यानपूर्वक करना चाहिये। जब भी फुरसत मिले, हमें भीतर गोता लगा लेना चाहिये कि इस समय हमारे अन्तरमन में क्या हो रहा है। मन कैसे माया-महल रच रहा है। अपना निरीक्षण तो होना ही चाहिये, ताकि अंधकार को बाहर निकाला जा सके, प्रकाश की पहल हो सके। आखिर ध्यान की कोई भी विधि क्यों न हो, सबका सार एक ही है—बाहर से भीतर मुड़ो, भीतर का कषाय-कल्मष मिटाओ और परम शांति में जिओ।

यद्यपि ध्यानपूर्वक जीने के पीछे आत्म-निष्ठा ही मुख्य है, पर इसका मतलब यह नहीं कि हम समाज से कट जायें अथवा श्रम से विमुख हो जायें। हमें अन्तरतम की गहराई में

भी डूबे रहना चाहिये और समाज से भी सम्पर्क बनाये रखना चाहिये। समाज में जायें सेवा और प्रेम के लिए; ध्यान करें अन्तरतम की गहराई में डूबने के लिए। मूल स्रोत के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं टूटना चाहिये।

हर व्यक्ति अपने मूल स्रोत तक पहुंच सकता है। हम अपनी देह से, स्मृतियों से, सम्बन्धों से, मन के विकल्पों से, चित्त की अनर्गलता से स्वयं को अलग हटाकर देखें। धीरे-धीरे गहराई आ जायेगी और अन्ततः अन्तस्-आकाश में वैठी मौन सत्ता के साथ हमारे संवाद और साक्षात्कार होने में कहीं कोई दुविधा नहीं है।

जीवन दिव्य और विमुग्ध हो, इसके लिए हमें निरन्तर सावचेत रहना चाहिये। दिव्य जीवन जीने के लिए हमें उन कामों को करने से परहेज रखना चाहिये जिनसे हमारी मानसिक शांति भग्न हो। मन ही विगड़ गया, तो सब कुछ विगड़ा ही समझो। मन विकृत हो गया तो मानो इन्द्रियां भी विकृत हो गयीं। किसी भी काम का अच्छा या बुरा होना, बहुत कुछ तो मन पर ही निर्भर करता है। शांत और सधे हुए मन से जिओ तो जीवन में चूक की कहीं कोई सम्भावना नहीं है।

हमें जब-तब अपने मन को देखते रहना चाहिये। अ-मन के फूल खिलते रहने चाहिये। भीतर कोई खाई बने या चक्रवात उठे, उससे पहले ही हमें उस पर ध्यान देकर उसका नियंत्रण कर लेना चाहिये। आत्म-दर्शन अथवा आत्म-मुक्ति के लिए मन, चित्त तथा बुद्धि का निर्मलीकरण प्राथमिक अनिवार्यता है। जैसे स्नान किये बगैर मंदिर जाना हम अच्छा नहीं मानते, वैसे ही अन्तरमन के मैल को धोये बगैर भीतर बैठे देवता तक कैसे जा सकेंगे? ध्यान परिपूर्णता को उपलब्ध नहीं कर पाता।

वस्तुतः हमें अपने मन का आसन बदलना चाहिये। मन की बैठक साफ-सुथरी हो, यह जरूरी है। दर्शन-शुद्धि, विचार-शुद्धि और आचार-शुद्धि मन का परिमार्जन करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं। हम शांत मन से किसी भी विषय-वस्तु का चिन्तन करें। बोलें तब भी बड़ी शांति से, बड़ी मिठास से। जीभ में खराश न हो, आंखें लाल न हों। हमारी वाणी, हमारा व्यवहार, हर काम नपा-तुला होना चाहिये। कम क्यों तौलें ! पूरा तौलें, मीठा बोलें। न जरूरत से ज्यादा खायें और न ही जरूरत से ज्यादा सोयें। जीभ और जांघ की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखें। किसी की निन्दा या स्तुति में रस न लें। अगर हम अपने आप पर अपना पहरा बैठाये रखेंगे, तो आंखे बुरा नहीं देखेंगी। कान बेकार की बातों में रस नहीं लेंगे। जुबान गलत-सलत नहीं बोलेगी।

स्वयं को बुराइयों में जाने से रोकना और अच्छाइयों में लगाना ही जीवन-चक्र में धर्म-चक्र का प्रवर्तन है।

धरती पर किसी चीज की कमी नहीं है। अगर कमी है, तो हमारी अपनी ही दृष्टि में है। यदि हम यह मान लें कि जो होता है, अच्छे के लिए होता है अथवा जो हो रहा है, वह मेरी नियति और कर्मों की परिणति है, तो हम स्वयं को मानसिक ऊहापोह से बचा लेंगे। अब जब हम मनुष्य हैं, तो स्वाभाविक है हमें क्रोध आएगा, काम-भाव जगेंगे। पर, अगर हम अपने आपको सुख-शान्ति का स्वामी बनाना चाहते हैं तो वैर और उपेक्षा की बजाय क्षमा और भागवत् प्रेम को बढ़ायें। हर एक को परमात्मा की मूरत मानें। भले लोगों से मैत्री हो, दीन-दुखियों पर करुणा हो। पाप से बचें और स्वयं को सदा प्रसन्न रखें।

ये सब वे साधन हैं, जिनसे हमारे चित्त, मन और

बुद्धि की शुद्धि होगी। अगर हम जीवन को परमात्मा का प्रसाद और अपने कार्य-कलापों को उसकी सेवा मान लें, तो कर्तृत्वभाव से जुड़ी हुई अहंकार की ग्रन्थियां शिथिल हो सकती हैं। जिसके लिए काम करना व्यायाम है और उत्पादन करना जगत्-पिता की सेवा, उसके लिए जीवन और प्रवृत्ति के बीच विरोधाभास ही कहां है !

यह गौरतलब है कि हम मन के आदेशानुसार न चलें। हमारा हर काम बुद्धि के निर्देशानुसार होना चाहिये। मन का तो हमें साक्षी होना है और बुद्धि का जीवन-संचालन के लिए उपयोग करना है। यदि इंसान को साक्षी होने का गुर मिल जाये, साक्षित्व की चाबी हाथ लग जाये, तो भीतर-ही-भीतर चलती रहती अनर्गल अन्तर्वार्ताओं से छुटकारा पाया जा सकता है। तनाव और चिन्ता को जर्जर किया जा सकता है। हम अपने मन को ऊर्जा देना कम करें, ताकि बुद्धि की शक्ति बढ़े और इस तरह हमारा जीवन विज्ञानमय हो जाये। मन पर बुद्धि का अनुशासन होना ही ध्यानयोग की सफलता है।

ध्यान सांसों या संवेदनाओं के अनुभव की कोई विधि भर नहीं है। विधियां तो प्रवेश के लिए होती हैं। वास्तव में तो जब विधि छूट जाती है, हम अपने तन के तल से ऊपर उठ जाते हैं, मन की क्रियाएं शून्य-शांत हो जाती हैं, तभी अन्तस्-आकाश में दृष्टा साकार होता है, ध्यान सम्पूर्ण होता है। ध्यान तो अपने में ही अपना विश्राम है। उस तत्व की पहचान है, जिसकी मुक्ति की हमारी अभीप्सा है। ध्यान तो अन्तस् का स्पर्श है, मौन में बैठक है, आकाश भर आह्लाद है। न अतीत की स्मृतियों का बोझ और न ही भविष्य की कल्पनाओं का शोर। जो है, उसी को आनन्दपूर्वक जीना है।

चैतन्य-ध्यान और सम्बोधि-ध्यान की विधियां एक प्रयोग भर हैं, भीतर के रिक्त आकाश में प्रवेश पाने के लिए। मानव-मन में मुक्ति की चेतना जग जाये, एक वार अन्तरबोध हो जाये, तो फिर तो सारे मार्ग प्रशस्त हैं। अगर कोई यह सोचे कि दो-पांच दिन ध्यान का अभ्यास करके बड़बड़ाते, धमाल मचाते मन को चुप किया जा सकता है, तो यह सम्भव नहीं है। जल्दवाजी न करें। धीरज धरें। वह धीरे-धीरे धीमा पड़ता है। अन्ततः शान्त और शून्य भी होता है। परिणाम नहीं, बीज के सिंचन पर ध्यान दें, फल-फूल अनायास खिल आएंगे।

हृदय की ओर बढ़ें, हृदय को खोलें। अन्तस्-आकाश को खोज लिया जाये, तो आत्म-स्वातन्त्र्य के विहग मुक्त विहार कर सकते हैं। तब ऐसे अहोभाव में जीना होता है, जिसमें सबको समाविष्ट किया जा सकता है।

मृत्यु हमें मिटाए, उससे पहले, हम मृत्यु से जुड़े पहलुओं को मिटा डालें, ताकि मृत्यु नहीं, मुक्ति हो। मृत्यु भी निर्वाण का महोत्सव हो। ज्योति का परम ज्योति में विलय हो।

तमसो मा ज्योतिर्गमय. . . .

असतो मा सद्गमय. . . .

मृत्योर्मा अमृतंगमय. . . .

हे प्रभु! मैं अंधा हूँ, दृष्टा बनाओ। भ्रमित हूँ,
अमृत बनाओ। बूंद हूँ, सागर बनाओ।

O my God !

I am only a drop, make me an ocean.

सम्बोधि ध्यान

शाम को प्रसन्न हृदय के साथ सम्बोधि-ध्यान में प्रवेश कीजिये। पहले खुलकर मुस्कुराइये, ताकि मानसिक तनाव और बोझ हल्का हो जाए।

प्रथम चरण : दृष्टि को नासाग्र पर केन्द्रित कीजिये और अपने आभामंडल को पहचानिये।

द्वितीय चरण : सांस पर ध्यान केन्द्रित कीजिये। स्वयं को सबसे अलग करते हुए तटस्थ भाव से अपनी वृत्तियों की प्रेक्षा/विपश्यना कीजिये और उनसे मुक्त हो जाइये।

तृतीय चरण : नाभि पर ध्यान केन्द्रित कीजिये। शरीर के अधोभाग में प्राणों का धीरे-धीरे संचार कीजिये और पुनः नाभि पर आइये।

चतुर्थ चरण : गहरे श्वास-प्रश्वास के द्वारा ऊर्जा-कुंड/कुंडलिनी को जगाइये और नाभि, हृदय, कंठ के क्रमिक स्पर्श का अहसास करते हुए मस्तिष्क के अग्रभाग पर ऊर्जा का समीकरण कीजिये।

पंचम चरण : शरीर को शिथिल छोड़ते हुए स्वयं में अन्तर्लीन हो जाइये। आनंद एवं अहोभाव में डूब जाइये।

ध्यान / अध्यात्म / चिन्तनपरक / श्रेष्ठ साहित्य

- मानव हो महावीर** : श्री चन्द्रप्रभ
हर मनुष्य में महावीरत्व कैसे प्रतिभ हो सकता है, इस सन्दर्भ में दिया गया एक ममस्वामयिक मार्गदर्शन ।
पृष्ठ १०, मूल्य १०/-
- जीवन, जगत् और अध्यात्म** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
धर्म के नैतिक और व्यावहारिक पहलुओं पर नवीनतम किन्तु स्तरीय प्रवचनों का अनुपम संकलन
पृष्ठ २५०, मूल्य ३०/-
- सो परम महारस चाखें** : श्री चन्द्रप्रभ
योगी आनन्दधन के विशिष्ट अध्यात्म-पदों पर दिये गये अमृत प्रवचनों का अनोखा संकलन ।
पृष्ठ १५०, मूल्य २०/-
- ज्योतिर्गमय** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
ध्यान शिविर में दिये गये विशिष्ट अध्यात्मपरक प्रवचन ।
पृष्ठ १००, मूल्य १२/-
- मनुष्य का कायाकल्प** : श्री चन्द्रप्रभ
मन और चेतना की विभिन्न गुणधियों को खोलते हुए ध्यान द्वारा कायाकल्प का एक प्रशस्त मार्गदर्शन ।
पृष्ठ २००, मूल्य २५/-
- स्वयं से साक्षात्कार** : श्री चन्द्रप्रभ
मन-मस्तिष्क की ग्रंथियों को खोलने के लिए ध्यान-शिविर में दिये गये अमृत प्रवचन ।
पृष्ठ १४६, मूल्य १०/-
- विपश्यना और विशुद्धि** : श्री चन्द्रप्रभ
शरीर, विचार और भावों की उपयोगिता और विशुद्धि के मार्ग दर्शाता एक अभिनव प्रकाशन ।
पृष्ठ ११२, मूल्य १२/-
- ज्योति कलश छलके** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
जीवन-मूल्यों को ऊपर उठाने वाली एक प्यारी पुस्तक । भगवान् महावीर के सूत्रों पर विस्तृत विवेचन ।
पृष्ठ १६०, मूल्य २०/-
- ध्यान की जीवंत प्रक्रिया** : सुश्री विजयलक्ष्मी जैन
ध्यान की सरल प्रक्रिया जानने के लिए एक बेहतरीन पुस्तक ।
पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

अप्य दीवो भव : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

जीवन, जगत और अध्यात्म के विभिन्न आयामों को उजागर

करता चिन्तन-कोष ।

पृष्ठ ११२, मूल्य १५/-

चलें, मन के पार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

सक्रिय एवं तनाव-रहित जीवन प्रशस्त करने वाला एक मनोवैज्ञानिक युगीन ग्रन्थ ।

पृष्ठ ३००, मूल्य ३०/-

व्यक्तित्व-विकास : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

हमारा व्यक्तित्व ही हमारी पहचान है, तथ्य को उजागर करने वाला एक मनोवैज्ञानिक प्रकाशन ।

पृष्ठ ११२, मूल्य १०/-

ध्यानयोग : विधि और वचन : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

ध्यान-शिविर में दिये गये प्रवचनों, विधि-प्रयोगों एवं अनुभवों का अमृत आकलन ।

पृष्ठ १८०, मूल्य २०/-

संभावनाओं से साक्षात्कार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अस्तित्व की अनंत संभावनाओं से सीधा संवाद ।

पृष्ठ ९२, मूल्य १०/-

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ

साधकों के लिए महत्वपूर्ण पुस्तक; ध्यान-योग की हर बारीकी का मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन ।

पृष्ठ ११२, मूल्य १२/-

आंगन में आकाश : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

तीस प्रवचनों का अनूठा आध्यात्मिक संकलन, जो आम आदमी को प्रबुद्ध करता है और जोड़ता है उसे अस्तित्व की सत्यता से ।

पृष्ठ २००, मूल्य २०/-

समय की चेतना : श्री चन्द्रप्रभ

श्री चन्द्रप्रभ की नवीनतम पुस्तक; समय की उपादेयता पर एक असाधारण प्रकाशन ।

पृष्ठ १४८, मूल्य १५/-

मन में, मन के पार : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

मन की गुत्थियों को समझाने और सुलझाने वाला एक महत्वपूर्ण प्रकाशन, दिशा-दर्शन ।

पृष्ठ ४८, मूल्य २/-

प्रेम के वश में है भगवान : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

जिसे पढ़े बिना मनुष्य का प्रेम अधूरा है ।

पृष्ठ ४८, मूल्य ३/-

जित देखूँ तित तू : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अस्तित्व के प्रत्येक अणु में परमात्म-शक्ति को उपजाने का प्रयत्न ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

चलें, बन्धन के पार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

बन्धन-मुक्ति के लिए क्रान्तिकारी सन्देश ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

वही कहता हूँ : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

दैनिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित स्तरीय प्रवचनांशों का संकलन ।

पृष्ठ ४८, मूल्य २०/-

संवाधि के दीप : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन-निर्माण एवं अन्तर्यात्रा के सिलसिले में हर व्यक्ति के लिए उपयोगी पुस्तक ।

पृष्ठ ११२, मूल्य १२/-

ज्योतिर्गमय : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

भीतर के घुप्प अंधकार को काटता एक प्रकाशवाही संकलन ।

पृष्ठ १०२, मूल्य १०/-

शिवोऽहम् : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

ध्यान की ऊँचाइयों को आत्मसात् करने के लिए एक तनाव-मुक्त स्वस्थ मार्गदर्शन ।

पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

पर्युषण-प्रवचन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

पर्युषण-महापर्व के प्रवचनों को घर-घर पहुँचाने के लिए एक प्यारा प्रकाशन; पढ़ें कल्पसूत्र को अपनी भाषा में ।

पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

प्रेम और शांति : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

मन की शांति एवं सुख की उपलब्धि के लिए महावीर के सिद्धान्तों की नवीनतम प्रस्तुति ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

महक उठे जीवन-वदरीवन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

व्यक्तित्व के निर्माण एवं समाज के विकास के लिए बुनियादी बातों का खुलासा ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

तीर्थ और मन्दिर : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

तीर्थ और मंदिर केवल श्रद्धास्थल हैं या कुछ और भी ? जानकारी के लिए पढ़िये यह पुस्तक ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

अमृत-सन्देश : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

सद्गुरु श्री चन्द्रप्रभ के अमृत-संदेशों का सार-संकलन ।

पृष्ठ ५६, मूल्य ३/-

तुम मुक्त हो, अतिमुक्त : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

आत्म-क्रान्ति के अमृतसूत्र ।

पृष्ठ १००, मूल्य ७/-

राम-राम रस पीजे : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

जीवन के हर कदम पर मार्ग दर्शाते चिन्तन-सूत्रों का दस्तावेज ।

पृष्ठ ८८, मूल्य १०/-

ध्यान : क्यों और कैसे : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

हमारे सामाजिक जीवन में ध्यान की क्या जरूरत है, इस संबंध में स्वच्छ राह दिखाती पुस्तक ।

पृष्ठ ८६, मूल्य १०/-

धरती को बनाएं स्वर्ग : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

धर्म की आवश्यकता और नारी-जगत पर लगी वेतुकी पाबंदियों पर समाचार-पत्रों को दिये गये विस्तृत साक्षात्कारों का प्रकाशन ।

पृष्ठ ५२, मूल्य ३/-

आत्मा की प्यास : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

गुरु-पूर्णिमा पर प्रकाश डालती पुस्तिका ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

मेडिटेशन एण्ड एनलाइटमेंट : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

ध्यान और समाधि के विभिन्न पहलुओं पर मनन और विश्लेषण; विदेशों में भी बेहद चर्चित ।

पृष्ठ १०८, मूल्य १५/-

रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर ८/- रुपये, न्यूनतम मात्र रुपये का साहित्य मंगाने पर डाक-व्यय से मुक्त । धनराशि श्री जितयशाश्री फाउंडेशन (*SRI JITYASHA SHREE FOUNDATION*) कलकता के नाम पर बैंक ड्राफ्ट या मनिआर्डर द्वारा भेजें । वी.पी.पी.से साहित्य भेजना शक्य नहीं होगा । आज ही लिखें और अपना आर्डर निम्न पते पर भेजें ।

श्री जितयशा फाउंडेशन

१ सी- एस्प्लानेड रो ईस्ट (रूम नं. 28)

धर्मतल्ला मार्केट ,

कलकता - 700069 दूरभाष : 220-8725

